

सामान्य अध्ययन (General Studies)

प्रश्नपत्र-I/ Paper-I

मॉडल उत्तर प्रारूप

1. प्रागैतिहासिक काल के मानव जीवन की जानकारी के लिये प्रागैतिहासिक गुफाओं में एवं शिलाओं पर निर्मित चित्र महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं। प्रागैतिहासिक चित्रकला की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में इन चित्रों के महत्व का मूल्यांकन कीजिये।
Paintings made in prehistoric caves and on rocks are important evidence for information about human life of prehistoric period. Evaluate the importance of these paintings as historical evidence by mentioning the features of prehistoric painting.

10 अंक (10 Marks)

उत्तर :

- विश्व की सभी प्रागैतिहासिक कलाएँ मानव के आधुनिक होने के पूर्व की हैं उसमें मानव के जन्मोत्थान और क्रमिक विकास का इतिहास संकलित है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता के पग पर बढ़ता गया, वैसे-वैसे समय के साथ कला भी विकास की सीढ़ी चढ़ती गई। प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में अभूतपूर्व महत्व रखती है। इन चित्रों का उद्भव काल मानव जाति के उत्पत्ति काल के इतिहास से ही संभवतया जुड़ा है।
- प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य गुफाओं में रहता था तथा जानवरों का शिकार कर अपनी भूख मिटाता था। इन्हीं गुफाओं की दीवारों पर आदिमानव ने अपने कला कौशल का परिचय कुरेद कर या फिर रेखाओं से सहजता के साथ अंकित कर दिया जो आज हमें उनके संघर्षपूर्ण जीवन से परिचित करवाता है।
- प्रागैतिहासिक कला का पहला प्रमाण 1878 ई. में इटली और फ्रांस में मिला तथा भारत में भित्ति चित्रकला को 1880 ई. में आर्किबाल्ड कार्लेली और जॉन कॉकबर्न द्वारा कैमूर (मिर्जापुर) पहाड़ी में खोजा गया। प्रागैतिहासिक चित्रकला के अन्य नमूने रायगढ़ (महाराष्ट्र), पंचमढ़ी एवं होशंगाबाद (म.प्र.), शाहाबाद (बिहार) आदि से मिले हैं।
- प्रागैतिहासिक चित्रकला की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-
 - भारत की प्रागैतिहासिक गुफा चित्रकारी, स्पेन की शैलाश्रय चित्रकलाओं से असाधारण रूप से मेल खाती हैं।
 - उत्तर पुरापाषाण, पाषाण युग में आदिमानव ने सबसे अधिक सांस्कृतिक प्रगति की। हड्डी, दाँत और सींग से बने उपकरणों के साथ क्षेत्रीय पत्थरों के औजार उद्योगों का उद्भव इस युग की विशेषता थी। इस युग के चित्र हरी और गहरी लाल रेखाओं से बनाए गए हैं। शैलाश्रयों, गुफाओं की दीवारों पर बड़े जानवरों को चित्रित करने के लिये सफेद, गहरे लाल और हरे शिकारियों के चित्रण के लिये लाल तथा नर्तकियों के चित्रण के लिये हरे रंग का प्रयोग किया जाता था। इन चित्रों में मुख्य रूप से विशाल जानवरों की आकृतियाँ जैसे कि बाइसन, हाथी, बाघ, गैंडे और छड़ी जैसी मानव आकृतियाँ शामिल हैं।
 - मध्य पाषाणकाल के चित्रों में मुख्यतया लाल रंगों के प्रयोग से चित्रकारी की गई है। चित्रों का आकार छोटा हो गया। इस काल के चित्रों में सामूहिक शिकार के दृश्यों का चित्रण मिलता है। इसके अलावा सवारी दृश्यों और चराई गतिविधियों का भी वर्णन मिलता है। मध्यपाषाण युग के लोग जानवरों को चित्रित करना अधिक पसंद करते थे। इन चित्रों में हाथी, जंगली साँड़, बाघ, शेर, सूअर, बारहसिंगा, हिरण, तेंदुआ, चीता, गैंडा, मछली, मेंढक, छिपकली, गिलहरी जैसे छोटे-बड़े जानवरों और पक्षियों को भी चित्रित किया गया है।
 - ताम्रपाषाण काल के चित्रों में मुख्यतया हरे और पीले रंग का प्रयोग किया गया है। अधिकांश चित्र युद्ध के दृश्यों को चित्रित करने पर केंद्रित हैं। तीर-कमान लेकर चलने वाले पुरुषों के साथ घोड़ों और हाथियों की सवारी करने वाले पुरुषों के कई चित्र मिले हैं। इस अवधि के चित्रों में भी वीणा की तरह अन्य वाद्ययंत्रों का चित्रण किया गया है। कुछ चित्रों में सर्पिल रेखा (Spiral), विषमकोण (Rhomboid) और वृत्त (Circle) जैसी जटिल ज्यामितीय आकृतियाँ हैं।
- कुछ अन्य सामूहिक विशेषताएँ-
 - प्रागैतिहासिक मानव की कला में यथार्थता एवं मौलिकता दोनों ही पाए जाते हैं। उस युग के चित्रों में शरीर के विभिन्न अंगों, उपांगों, मांसपेशियों, नस्लों और भंगिमाओं को चित्रित न करके उन्हें छड़ी के रूप में प्रदर्शित की गई है। ये चित्र विषय शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस युग के मानव जीवन के प्रतीक हैं।

- ▶ इन चित्रों में अधिकतर आखेट के चित्र प्राप्त होते हैं। इनमें पशु-पक्षियों का अंकन मुद्राओं के साथ करने का प्रयास किया गया है। आखेटकों के पास नोकदार भाले, ढाल और धनुष-बाण आदि दिखाए गए हैं। कुछ चित्रों में आदि धर्म और जादू-टोने एवं कृषक जीवन का चित्रण भी किया गया है।
- ▶ रंगों में व्यापकता नहीं मिलती, हालाँकि कुछ चित्रों को गेरू, खड़िया और काले रंग से रंगा गया है। विभिन्न रंगीन चट्टानों, पौधों या अन्य प्राकृतिक स्रोतों से रंग प्राप्त यथा हेमेटाइट (भारत में गेरू रंग) से लाल रंग को तथा चूना पत्थर से सफेद रंग को प्राप्त किया जाता था। ब्रश पौधों के रेशों (plant fiber) से बने होते थे। रंगों के व्यतिकरण की प्रक्रिया को देखा जा सकता है (एक ही चित्र में सबसे पहले काला, फिर लाल और बाद में सफेद रंग का प्रयोग है)।
- ▶ ये चित्रकलाएँ आदिम अभिलेख हैं जिन्हें अपरिष्कृत लेकिन यथार्थवादी ढंग से तैयार किया गया है। चट्टानों की सतह पर मौजूद ऑक्साइड की रासायनिक अभिक्रिया के कारण ये रंग हजारों वर्ष तक यथावत् बने रहे।

ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में प्रागैतिहासिक चित्रकला का महत्त्व—

- ▶ चित्रकला के उद्भव के संकेत मनुष्य की सभ्यता के प्रारंभिक काल से ही मिलने लगते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गई, वैसे-वैसे चित्रकला में भी अधिक प्रवीणता देखी जाने लगी। और चित्रकला में हो रहा यही क्रमिक विकास हमें तत्कालीन मानव समाज के विचारों, रहन-सहन, व्यवसाय आदि गतिविधियों को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।
 - ▶ इन चित्रों से उनके जीवन के आधारभूत तत्त्वों का परिचय होता है, जैसे- उसके जीवन में शक्ति और सहयोग का विकास कैसे हो रहा था, प्राचीन मानव किन-किन परिस्थितियों से गुजर रहा था और सभ्यता की दौड़ में वे कहाँ तक थे।
 - ▶ इस काल में प्राप्त चित्रों में पशु-पक्षियों के चित्रों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका शिकार जीवन निर्वाह के लिये किया जाता होगा।
 - ▶ नृत्य के चित्र इस काल के सांस्कृतिक जीवन को जानने का एकमात्र स्रोत है।
 - ▶ युद्ध के चित्र संसाधनों के आवंटन एवं उन पर कब्जा करने के द्योतक हैं।
 - ▶ विद्वानों के एक वर्ग का मानना है कि प्रागैतिहासिक चित्रकारी को कला प्रेम का परिणाम कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा। इस चित्रकारी के पीछे का मुख्य कारण जंगली जानवरों को आजीविका के साधन के रूप में प्रदर्शित करना था।
 - प्रागैतिहासिक कला विश्व कला की सुदृढ़ नींव है और प्रागैतिहासिक मानवों के क्रियाकलापों की जानकारी के ऐसे अमूल्य स्रोत हैं, जो पाश्चात्य और पूर्वात्य के भेद से दूर मानव की तत्कालीन विषम परिस्थितियों के प्रति संघर्षपूर्ण इतिहास की जानकारी उपलब्ध करवाकर हमारी चेतना को जागृत कर रहे हैं जिससे मानव गतिशील होने और अपने जीवन मूल्यों को समन्वित करने को प्रेरित हो रहा है।
2. संगम साहित्य दक्षिण भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को जानने का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। टिप्पणी कीजिये।

Sangam literature is an important source of social and cultural features of South India. Comment.

10 अंक (10 Marks)

उत्तर :

- दक्षिण भारत (कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदी के दक्षिण में स्थित क्षेत्र) में लगभग तीन सौ ईसा पूर्व से तीन सौ ईस्वी के बीच की अवधि को 'संगम काल' के नाम से जाना जाता है। इस समय पांड्य राजाओं के संरक्षण में कुल तीन संगम आयोजित किये गए। इनमें संकलित साहित्य को ही 'संगम साहित्य' कहा गया। ऐतिहासिक युग के प्रारंभ में दक्षिण भारत का क्रमबद्ध इतिहास हमें संगम साहित्य से ही प्राप्त होता है। इसके पूर्व का कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ हमें दक्षिण भारत से प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार, सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक इतिहास का मुख्य स्रोत संगम साहित्य ही है।
- संगम साहित्य मुख्य रूप से तमिल भाषा में लिखा गया है, संगम युग की प्रमुख रचनाओं में तोलकाप्पियम, एतुत्तौके, पक्तप्पातु, पदिनेकिल्लकणक्कु इत्यादि ग्रंथ तथा शिलप्पादिकारम्, मणिमेखलै और जीवक चिंतामणि महाकाव्य शामिल हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से संगम साहित्य प्रेम, युद्ध, शासन, व्यापार और समाज तमिल साहित्य की वीरोचित कविताएँ और अन्य रचनाएँ प्रारंभिक तमिल लोगों की प्रचलित सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के प्रमाण हैं।
- तमिल साहित्य में पदतुपक्त, इत्थुथोकै, पदिनेन कीलकन्क्कु, माणिमेकलै और शिल्पादीकारम जैसे ग्रंथों से उस समय की सामाजिक स्थिति की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है इस ग्रंथों के अनुसार दक्षिण भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

सामाजिक विभाजन-

- उत्तर भारतीय चतुर्वर्ण व्यवस्था के समान विभाजित समाज को इस काल में तमिल समाज में नहीं देखा जा सकता है।
- प्रारंभ में समाज मेगालिथिक विशेषताओं से युक्त था, लेकिन जैसे-जैसे समाज कृषि आधारित होता गया, ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था जैसी जटिल जाति व्यवस्था का उदय हुआ। समानांतर रूप से बौद्ध धर्म भी इस समाज में जड़ें जमा रहा था।
- भूमि पर चोल, चेर और पांड्य सरदारों का नियंत्रण था। वे कृषि भूमि और नदी घाटियों को नियंत्रित करते थे, साथ ही तटीय व्यापार को भी नियंत्रित करते थे।
- इत्थुथोकै में संगम काल के राजाओं के साथ तत्कालीन समाज का विवरण दिया गया है। इसमें इन जातियों का उल्लेख है जो अरसार (शासक), अंथासर (पुजारी), वेल्लाल (बड़े कृषक), वेनिगर (व्यापारी) और वेल्लालर (मजदूर कृषक वर्ग) हैं। इन वर्गों के सामाजिक जीवन में भारी विषमता विद्यमान थी।

व्यापार

- यह क्षेत्र सूती वस्त्र का प्रमुख केंद्र हुआ करता था। पश्चिमी देशों में बड़े पैमाने पर रेशम का निर्यात किया जाता था, जिससे भारी मात्रा में लाभ सोने के रूप में प्राप्त होता था। काली मिर्च और हाथी दाँत के लिये यह स्थान काफी प्रमुख था क्योंकि यहां से इनका व्यापार भी होता था।

विदेशी जातियाँ-

- विदेशी व्यापार के कारण बंदरगाहों के आसपास बड़ी संख्या में हिंद-यवन आदि जातियाँ मौजूद थीं।

दास प्रथा-

- दास प्रथा के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता है।

स्त्रियों की स्थिति-

- समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था उच्च वर्ग की स्त्रियाँ ललित कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थी। ओवैयर, नच्चेलियर जैसी स्त्रियों ने कविताएँ भी लिखी थीं। स्वतंत्रता के अवसर उपलब्ध थे (खेल कूद, युगल विहार) आदि। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ आर्थिक क्रियाकलापों (खेत में काम, सूत कातना) में भाग लिया करती थीं। नर्तकियों को पाणर तथा विदेलियर कहा गया। शिल्पादिकारम महाकाव्य में पत्नी पूजा (कन्नगी पूजा) का भी उल्लेख है।

विवाह-

तोल्क्कापियम से पता चलता है कि संगम काल में विवाह प्रथा संस्कार के रूप में स्थापित थी। जीवकचिंतामणि काव्य में जीवक नामक राजकुमार आठ विवाह करता है जिससे 8 प्रकार के विवाहों का पता चलता है जो कि इस बात का साक्ष्य है कि तमिल संस्कृति में आर्य विवाह पद्धति का सम्मिलन हो रहा था। समाज में प्रेम विवाह मान्य था, जिसे पंचतनै कहा गया। शिल्पादिकारम् के नायक कोवलन एवं उसकी दूसरी पत्नी माधवी का विवाह प्रेम विवाह का एक उदाहरण है। विधवा स्त्रियों का जीवन अच्छा नहीं था, उनकी स्थिति बहुत दयनीय हो जाती थी। उच्च वर्ग की जातियों में सती प्रथा भी प्रचलित थी।

धार्मिक स्थिति-

- मुरुगन प्रमुख देवता थे जबकि वरुण और इंद्र अन्य देवता थे।
- कन्नगी पूजा का भी प्रचलन था।
- टोटमवाद, जादू टोना, ताबीज़ के साक्ष्य मिलते हैं।

शवाधान पद्धति-

- आंशिक, पूर्ण एवं अर्द्ध तीनों प्रकार की शवाधान परिपाटियाँ प्रचलित थीं। प्रस्तर पूजा, वीर पूजा की प्रथाओं का प्रचलन था।
- संगम साहित्य ही एकमात्र ऐसा साहित्यिक स्रोत है जो सुदूर दक्षिण के जनजीवन पर सर्वप्रथम विस्तृत और स्पष्ट प्रकाश डालता है। यद्यपि, इससे हमें वहाँ के राजनीतिक जीवन के तिथिक्रम के संबंध में समुचित ज्ञान नहीं मिलता, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यह साहित्य वहाँ के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के संबंध में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। इन साहित्यों में संस्कृत भाषा के अनेक शब्दों के तमिल भाषा में आत्मसात् करने के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार, संगमयुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में तमिल विशिष्टता के साथ-साथ उत्तर भारतीय सामाजिक संरचना का अनूठा समन्वय देखा जा सकता है।

3. “गुप्तकालीन मूर्तिकला में विदेशीपन का अभाव है, यह शुद्ध भारतीय कला के रूप में विकसित हुई।” इस कथन के आलोक में गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कुषाणकालीन मूर्तिकला से इसकी भिन्नता को स्पष्ट कीजिये।

“Gupta sculpture lacks foreignness, it developed as pure Indian art.” In the light of this statement explain its difference from Kushana sculpture by mentioning the characteristics of Gupta sculpture. **10 अंक (10 Marks)**

उत्तर :

- गुप्त काल कला की दृष्टि से भारत का ‘स्वर्ण काल’ माना जाता है। इस काल में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ था। इस काल में मूर्तिकला का विकास मुख्यतः मथुरा, पाटलिपुत्र और सारनाथ में हुआ था। चूँकि मथुरा, पाटलिपुत्र एवं सारनाथ की मूर्तिकला का स्वरूप स्वदेशी था एवं इनका विकास भी स्वाभाविक रूप से भारत में हुआ। अतः इनमें विदेशीपन का अभाव देखा जा सकता है। इन मूर्तियों का निर्माण प्रस्तर, मिट्टी एवं धातु के प्रयोग से किया गया था, जो सजीवता एवं मौलिकता के गुणों से युक्त थी।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताएँ—

- गुप्तकालीन मूर्तिकला मथुरा एवं अमरावती की उत्कृष्ट मूर्तिकला की तार्किक परिणति कही जा सकती है, जिसमें प्रतिमाओं की सुघट्यता मथुरा शैली से और लालित्य अमरावती शैली से उद्भूत है।
- गुप्तकालीन मूर्तिकला संयमित एवं नैतिक तत्त्वों से संपन्न थी। इस काल की मूर्तियों में मोटे वस्त्रों के आवरण को देखा जा सकता है।
- गुप्तकालीन मूर्तियों में सूक्ष्म गढ़ाई, स्पष्ट रूपरेखा, अर्द्ध पारदर्शी वस्त्र, तन की कोमलता, मुख पर ऊर्जा, मधुर मुस्कान आदि को बेहद कलात्मक ढंग से दिखाया गया है।
- गुप्त काल में हिंदू धर्म को संरक्षण दिया गया अतः अधिकतर चित्र धार्मिक ही हैं जैसे कि उदयगिरी की विशाल वराह की मूर्ति, अनंतशायी विष्णु की मूर्ति, गंगा-यमुना, हरिहर, रामावतार, कृष्णावतार से जुड़ी मूर्तियाँ।
- गुप्तकालीन मूर्तिकला अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक भेदभाव को प्रदर्शित करती हैं जैसे कि मुख्य देवता के चारों ओर गौण देवता की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।
- इस काल की मूर्तियों में मानव आकृति अब मुख्य आकर्षण का केंद्र बन गई थीं। सारनाथ में खड़े हुए बुद्ध की प्रतिमा मानव आकृति परिपक्वता में गुप्तकालीन कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।
- स्वतंत्र मूर्तियों के स्थान पर मंदिरों में मूर्तियों का अत्यधिक निर्माण हुआ। गर्भगृह में स्थापित मूर्तियाँ, अलंकरण द्वार की मूर्तियाँ एवं पंचायतन मूर्तियाँ। जबलपुर में वैष्णवती तिगावा मंदिर, देवगढ़ में दशावतार मंदिर और भीतरगाँव मंदिर गुप्त काल के दौरान प्रचलित मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं।
- रॉक कट की मूर्तियों के अलावा गुप्त कलाकार धातुओं पर काम करने में भी उतने ही योग्य थे। दिल्ली का लौह स्तंभ और उसकी मूर्ति साथ ही नालंदा में भगवान बुद्ध की एक ताँबे 80 फीट ऊँची मूर्ति इसका प्रमुख उदाहरण है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला एवं कुषाणकालीन मूर्तिकला में भिन्नता—

- कुषाण कालीन मूर्तिकला में अंग प्रदर्शन ज्यादा है। इसकी अपेक्षा गुप्तकालीन मूर्तियाँ ज्यादा नैतिक एवं संयमित हैं।
- कुषाणकाल में विकसित गांधार मूर्तिकला पर यूनानी, रोमन व पश्चिम एशियायी प्रभाव को देखा जा सकता है, जबकि गुप्त मूर्तिकला पर स्थानीय प्रभाव देखा जा सकता है।
- गांधार मूर्तिकला में बुद्ध से संबंधित मूर्ति मथुरा मूर्तिकला में जैन धर्म से संबंधित मूर्तियों का निर्माण हुआ वहीं गुप्तकालीन मूर्तिकला हिंदू धर्म से प्रभावित हुई।
- गांधार मूर्तिकला में नीले एवं काले रंग के प्रस्तर का प्रयोग किया गया। वहीं गुप्तकालीन मूर्तिकला में लाल एवं पीले बलुआ पत्थरों का प्रयोग हुआ है।
- कुषाणकालीन मूर्तिकला में राजाओं का देवीकरण हुआ है जैसे कि सम्राट कनिष्क की आदमकद प्रतिमाएँ, वहीं गुप्तकालीन मूर्तिकला में देवताओं का मानवीकरण हुआ है।
- गुप्तकालीन मूर्तिकला में सामंतवाद के तत्त्व नजर आते हैं पंचायतन शैली की मूर्तियों में इन्हें देखा जा सकता है वहीं, कुषाण मूर्तिकला में केंद्रीकरण।
- इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि गुप्तकालीन मूर्तिकला कुषाणकालीन मूर्तिकला से प्रेरित एवं प्रभावित अवश्य थी, लेकिन मूर्तियों की आकृति एवं सुंदरता में मौलिकता विद्यमान थी। गुप्त काल के साथ-साथ भारत ने मूर्तिकला के उत्कृष्ट काल में प्रवेश किया था। शताब्दियों

के प्रयास से कला की तकनीकों को संपूर्णता मिली। निश्चित शैलियों का विकास हुआ और सूक्ष्मता से सौंदर्य के आदर्शों का सृजन हुआ। कला के वास्तविक लक्ष्यों और अनिवार्य सिद्धांतों को बुद्धिमानी से पूर्णरूपेण समझकर एक उच्च विकसित सौंदर्य बोध और कुशल हाथों द्वारा कौशलपूर्ण निष्पादन कर ऐसी अद्वितीय कृतियों को जन्म दिया जो उत्तरवर्ती युगों के भारतीय कलाकारों के लिये आदर्श और उद्देश्य थे। गुप्त प्रतिमाएँ आने वाले समय के लिये भारतीय कला का मात्र मॉडल ही नहीं रहीं बल्कि इन्होंने सुदूर पूर्व में उपनिवेशों में आदर्शों के रूप में भी कार्य किया।

4. अमेरिकी क्रांति उस सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष था जो अब अमेरिका के लिये उपयोगी नहीं रह गई थी। इसने अमेरिकी समाज को लोकतांत्रिक स्वरूप प्रदान करने के साथ ही यूरोप में क्रांति की आग को भड़काया। चर्चा कीजिये।

The American Revolution was a struggle against the social and political system that was no longer useful to America. It ignited the fire of revolution in Europe along with giving a democratic form to American society. Discuss. **10 अंक (10 Marks)**

उत्तर :

- अमेरिकी क्रांति आधुनिक विश्व इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है, जिसने उदार लोकतंत्र एवं संविधानवाद की स्थापना की तथा फ्राँसीसी क्रांति के लिये पृष्ठभूमि का निर्माण किया। यद्यपि, किसी क्रांति के अनेक कारण होते हैं लेकिन अमेरिकी क्रांति का मुख्य कारण उपनिवेशों और मातृ देश के हितों में मौलिक मतभेदों का होना है। यद्यपि, यह क्रांति मुख्यतः ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों के बीच आर्थिक हितों का संघर्ष था, किंतु कई तरीकों से यह उस सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध भी विद्रोह था जिसकी उपयोगिता अमेरिका में अब समाप्त हो गई थी।
- यद्यपि, इंग्लैंड की सरकार की नीति अमेरिकी हितों के प्रतिकूल थी, परंतु कई कारणों से अमेरिकी उपनिवेशों ने काफी समय तक इसे सहन किया क्योंकि-
 - काफी समय तक इंग्लैंड के नियंत्रण की नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया गया,
 - संभावित फ्राँसीसी आक्रमण के विरुद्ध इंग्लैंड की सहायता प्राप्त होने के कारण अमेरिकी उपनिवेशों ने आर्थिक नियंत्रण को सहन किया
 - काफी समय तक अमेरिकी उपनिवेश अशक्त होने के कारण इंग्लैंड पर आश्रित रहे।
- सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति होने पर 1763 ई. की पेरिस की संधि से अमेरिकी परिस्थितियाँ पूर्णतया बदल गईं। अब अमेरिकी उपनिवेशों को फ्राँसीसियों की ओर से कोई भय नहीं रहा। अतः उन्हें गृह सरकार पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रह गई। सप्तवर्षीय युद्ध के काल में अमेरिकी उपनिवेश न केवल धन संपदा से संपन्न हो गए थे, बल्कि वे काफी आत्म-निर्भर भी हो गए थे, और उन लोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी। अतः अब उन्हें गृह सरकार का नियंत्रण पसंद नहीं था। वह उनके नियंत्रण से बाहर निकलना चाहते थे।
- अमेरिकी क्रांति के निम्नलिखित कारण थे-

सामाजिक कारण

- अमेरिका में आकर बसने वाले अप्रवासी इंग्लैंड के नागरिकों के अपेक्षा कहीं अधिक स्वातंत्र्य प्रेमी थे। इसका कारण यह था कि यहाँ का समाज यूरोप की तुलना में कहीं अधिक समतावादी था। अमेरिकी समाज में अधिकांश किसानों के पास ज़मीन थी, जबकि ब्रिटेन में सीमांत काश्तकारों एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या ज़्यादा थी। नए महाद्वीप पर पैर रखने के साथ ही अप्रवासी ब्रिटिश कानून एवं संविधान के अनुसार कार्य करने लगे थे। उनकी अपनी राजनीतिक संस्थाएँ थी। इस प्रकार, अमेरिकी उपनिवेशों में आरंभ से ही स्वशासन की व्यवस्था विद्यमान थी जो समय के साथ विकसित होती गई और इस पर नियंत्रण लगाने का प्रयास अमेरिकी क्रांति का एक कारण बना।
- इन उपनिवेशों की सामाजिक संरचना पैतृक परंपरा के आधार पर संगठित यूरोपीय समाज से भिन्न थी, अतः ये लोग एकसमान आदर्श, कार्यक्रम एवं भावी योजनाओं के लिये समर्पित थे। इंग्लैंड का समाज सामंती था, जबकि अमेरिका का समाज जनतंत्रात्मक था। इंग्लैंड का समाज रूढ़िवादी और कृत्रिम था, जबकि अमेरिका का समाज मौलिक और आदर्शवादी था। रूढ़िवादी और प्रगतिशील समाज में कभी समन्वय नहीं हो सकता।

राजनीतिक कारण

- चूँकि, ब्रिटिश संसद में उपनिवेशों से कोई प्रतिनिधित्व नहीं था, इसलिये यह माना गया कि उसे उपनिवेशों पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था।
- सप्तवर्षीय युद्ध (1756-63) ने यूरोपीय देशों के संसाधनों को समाप्त कर दिया था। घाटे की भरपाई के लिये इन देशों ने कॉलोनियों का रुख किया। चूँकि, प्रमुख उपनिवेश उत्तरी अमेरिका में थे, इसलिये उन्हें सबसे अधिक नुकसान हुआ। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों का मानना था कि इंग्लैंड ने उपनिवेशों की रक्षा हेतु धन खर्च किया है, इसलिये उपनिवेशों को इंग्लैंड को अधिक कर देने चाहिये।

आर्थिक कारण

- वर्ष 1624, 1651 और 1660 में ऐसे नेविगेशन कानून बनाए गए जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये केवल ब्रिटिश जहाजरानी को अनिवार्य बनाते थे।
- तंबाकू, चीनी और कपास जैसे उत्पाद केवल इंग्लैंड को निर्यात किये जा सकते थे। अन्य उपनिवेशों और इंग्लैंड के बाहर के उत्पादों के लिये भारी आयात शुल्क को अधिरोपित किया जाता था।
- 1765 ई. में ब्रिटिश संसद ने स्टाम्प अधिनियम अधिनियमित किया। प्रत्येक कानूनी दस्तावेज़ पर स्टाम्प लगाना अनिवार्य कर दिया गया था।
- इंग्लैंड के अभिजात वर्ग ने उत्तरी अमेरिका में अधिकांश भूमि खरीदी और पश्चिम में उपनिवेशवादियों के भूमि स्वामित्व अधिकारों को प्रतिबंधित कर दिया। वे उपनिवेशवादियों को हमेशा के लिये किराएदार के रूप में बनाए रखना चाहते थे।

वैचारिक कारण

- 18वीं सदी के मध्य में शिक्षण संस्थानों (हार्वर्ड, विलियम व मेरी कॉलेज) एवं पत्रकारिता (न्यूयॉर्क गजट, बोस्टन लेटर) ने तर्क और बुद्धिवाद पर बल देकर राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया।
- अमेरिका में जीवन के स्थायित्व के साथ ही शिक्षा और पत्रकारिता का विकास हुआ जिसने बौद्धिक चेतना के विकास में अपना योगदान दिया। अमेरिका के अनेक बौद्धिक चिंतकों जैसे- बेंजामिन फ्रैंकलिन, थॉमस जेफरसन, जेम्स विल्सन, जॉन एडम्स, टॉमस पेन, जेम्स ओटिस, सैमुअल एडम्स आदि ने मातृदेश के प्रति उपनिवेशों के प्रतिरोध का औचित्य बताया। इनके विचार जॉन लॉक, मॉण्टेस्क्यू जैसे चिंतकों से प्रभावित थे। किंतु ये विचार ऐसे सशक्त रूप से अभिव्यक्त किये गए थे कि उससे अमेरिकी लोगों की स्वशासन की मांग को बल मिल गया।
- कुछ दार्शनिकों ने 'एक द्वीप द्वारा शासित एक महाद्वीप' की तर्कहीनता पर जोर दिया। अतः विद्रोह के लिये जनता को तैयार किया।
- अमेरिकी क्रांति की शुरुआत बोस्टन टी पार्टी (1773) नामक घटना से माना जाता है और दूसरी महाद्वीपीय कॉन्ग्रेस के आयोजन के साथ 4 जुलाई, 1776 को स्वतंत्रता की घोषणा के साथ पूर्ण माना जाता है। अमेरिकी स्वतंत्रता अपने स्वरूप में क्रांति भी थी क्योंकि जब हम स्वतंत्रता पूर्व अमेरिका एवं स्वतंत्रता पश्चात अमेरिका की तुलना करते हैं, तो पाते हैं कि अमेरिकी समाज का स्वरूप ज्यादा लोकतांत्रिक, उदार तथा गणतांत्रिक हो गया था जिसे निम्नलिखित बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है-
 - जेफरसन द्वारा निर्मित घोषणा-पत्र में कहा गया था कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है, जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति के अधिकार सभी मनुष्यों के मूलभूत अधिकार हैं।
 - जब संसार के सभी देशों में राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित थी उस दौर में अमेरिका में प्रजातंत्र की स्थापना की गई। नए संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व के समक्ष चार नवीन राजनीतिक आदर्श गणतंत्र, जनतंत्र, संघवाद और संविधानवाद को प्रस्तुत किया। यद्यपि, ये सिद्धांत विश्व में पहले भी प्रचलित थे, लेकिन अमेरिका ने इसे व्यवहार में लाकर एक सशक्त उदाहरण पेश किया।
- अमेरिकी संविधान में मौलिक अधिकारों की गारंटी से युक्त व शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित लिखित संविधान का निर्माण हुआ। संविधान की उद्देशिका में कहा गया है कि संविधान की शक्ति, अमेरिका की जनता में निहित है।
- आधुनिक इतिहास में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने सर्वप्रथम धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की स्थापना की। नए संविधान के अनुसार, चर्च को राज्य से अलग किया गया।
- क्रांति के परिणामस्वरूप अमेरिकी जनता को एक परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था प्राप्त हुई जिसमें मानवीय समानता पर विशेष बल दिया गया। स्त्रियों को संपत्ति पर पुत्र के समान उत्तराधिकार प्राप्त हुआ और उनकी शिक्षा के लिये स्कूलों की स्थापना की गई जिससे लैंगिक समानता सुनिश्चित करने का प्रयास हुआ।

फ्राँसीसी क्रांति पर प्रभाव-

- अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम में फ्राँस ने सहयोग देकर सप्तवर्षीय युद्ध में हुई पराजय का बदला लेकर अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित किया एवं फ्राँसीसी जनता में आत्मविश्वास का भाव उत्पन्न हुआ।
- इस क्रांति में शामिल होने से आर्थिक संकट से ग्रस्त फ्राँसीसी अर्थव्यवस्था को और भी दयनीय बना दिया एवं क्रांति को अवश्यभावी बना दिया।
- अमेरिका से लौटे फ्राँसीसी सैनिकों व अधिकारियों के मस्तिष्क में क्रांति का बीजारोपण हो चुका था। 'लफायत' ने इस कार्य में विशेष भूमिका निभाई थी।
- अमेरिकी बुद्धिजीवी एवं दार्शनिकों ने फ्राँस के दार्शनिकों को प्रभावित किया। वस्तुतः स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व के आदर्श अमेरिकी क्रांति से ही आयातित थे।

- इतिहासकार हेज के अनुसार, “स्वतंत्रता की यह मशाल जो अमेरिका में जली और जिसके फलस्वरूप गणतंत्र की स्थापना हुई, का फ्राँस में तीव्र प्रभाव पड़ा और इसने फ्राँस को क्रांति के मार्ग की ओर प्रेरित किया। अब वे भी अमेरिकियों के समान स्वतंत्र होना चाहते थे।”
 - अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। इसे विश्व इतिहास की एक विभाजक रेखा मानी जाती है। पहली बार 13 उपनिवेशों ने संयुक्त होकर औपनिवेशिक शासन का विरोध किया। परिणामस्वरूप, विश्व मानचित्र पर एक जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय हुआ। इस प्रकार, अमेरिका दुनिया का प्रथम राष्ट्र बना जहाँ गणतंत्रात्मक व्यवस्था अपनाई गई। अमेरिका में ही पहली बार लिखित संविधान लागू किया गया, धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई। अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम से प्रेरणा लेकर अनेक राष्ट्रों में क्रांति की ज्वाला भड़क उठी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण 1789 की फ्राँस की क्रांति थी।
5. फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के न्यू डील कार्यक्रम का परीक्षण कीजिये। क्या यह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रहा?

Examine Franklin D. Roosevelt's New Deal program. Was it successful in achieving its objectives? **10 अंक (10 Marks)**

उत्तर :

- वर्ष 1929 में आई विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से सारे पूंजीवादी अर्थजगत में भू-चाल आ गया था। 1932 तक अमेरिका की राष्ट्रीय आय में काफी गिरावट आ चुकी थी और लगभग डेढ़ से पौने दो करोड़ तक लोग आजीविकाहीन हो चुके थे। इस मंदी से निपटने के लिये अनेक योजनाओं को लाया गया जैसे कि हूवर योजना, लंदन सम्मेलन, जर्मन योजना, ब्रियाँ प्रस्ताव आदि लेकिन इन योजनाओं को वांछित सफलता नहीं मिली। इस मंदी को दूर करने के लिये तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने जिस नीति का पालन किया उसे नई व्यवहार नीति (new deal policy) के नाम से जानते हैं। इस नीति के तहत बेरोजगारों को राहत पहुँचाने तथा अर्थव्यवस्था को नई दिशा देने के लिये कई साहसिकतापूर्ण निर्णय लिये गए तथा कुछ समाजवादी तत्त्वों को अपनाया गया।

न्यू डील के तहत उठाए गए कदम—

- यह पॉलिसी 3R(Relief, Recovery, Reforms) पर आधारित थी, जिसके अंतर्गत सरकारी हस्तक्षेप द्वारा अर्थव्यवस्था का नियोजन कर आर्थिक संकट को दूर करने का प्रयास किया गया।
- मुद्रा संकट रोकने के लिये बैंकों को कुछ काल के लिये बंद कर दिया गया। बाद में जब खोलने की अनुमति दी गई तो उनके कठोर अधीक्षण की व्यवस्था की गई। मुद्रा का अवमूल्यन किया गया ताकि अमेरिकी कृषि-उत्पादकों को विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता करने में सहायता मिले।
- बैंकों में जमा की गई राशियों को संघ सरकार की ओर से भुगतान की गारंटी की गई। इसके फलस्वरूप जमाकर्ता के जीवनभर की कमाई खो देने का खतरा दूर हुआ।
- औद्योगिक क्षेत्र की मंदी को दूर करने के लिये वर्ष 1933 में राष्ट्रीय औद्योगिक पुनर्गठन अधिनियम (ब्लू ईगल एक्ट) पारित किया गया था जिसके परिणामस्वरूप रोजगार एवं वेतन में वृद्धि देखी गई।
- किसानों की क्रय शक्ति बढ़ाने, ग्रामीण ऋण में कमी तथा कृषि उत्पादन व औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में समानता लाने के उद्देश्य से कृषि नीतियाँ बनाई गईं जैसे कि कृषि समायोजन अधिनियम, कृषि साख अधिनियम, गृहस्वामी ऋण अधिनियम आदि।
- सामाजिक सुरक्षा अधिनियम पारित कर सामाजिक कल्याण को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया। इसके अंतर्गत संघ द्वारा राज्यों को अनुदान, स्वास्थ्य सेवाएँ, वृद्धा पेंशन तथा बीमा सुविधाएँ इत्यादि कार्यक्रम आरंभ किये गए।
- राष्ट्रीय रोजगार सेवा अधिनियम को पारित कर सड़क, बाँधों, पुलों के निर्माण से बड़ी संख्या में रोजगार का सृजन हुआ। टेनेसी घाटी प्राधिकरण का गठन भी इसी संदर्भ में किया गया था।
- शेयर बाजार को नियंत्रित करने के लिये सिक्योरिटी एक्सचेंज एक्ट 1934, प्रतिभूति और विनिमय आयोग आदि की स्थापना की जिससे अत्यधिक तथा गैर-जिम्मेवार सट्टेबाजी को रोका जा सके।
- नेशनल इंडस्ट्रियल रिकवरी एक्ट (एन.आई.आर.ए.) श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने के लिये, काम के घंटे को कम करने के लिये पारित किया गया था।
- ‘फेयर लेबर स्टैंडर्ड एक्ट’ तथा ‘नेशनल लेबर रिलेशंस एक्ट’ पारित कर श्रमिकों के हितों में बड़े परिवर्तन किये व बच्चों को काम में लगाए जाने पर रोक लगा दी गई। श्रमिकों को अपना संघ बनाने तथा उसके माध्यम से संघर्ष करने का अधिकार मिला।
- संघीय आपातकालीन राहत प्रशासन (FERA) का गठन किया गया जिसके द्वारा राज्यों और स्थानीय प्रशासन के लिये वित्त उपलब्ध कराया गया।

- सुधारों के इस दौर में आयकर, कंपनियों के मुनाफे पर कर तथा अधिकार आदि की नई दरें लागू की गईं तथा इस बात की कठोर व्यवस्था की गई कि कोई बच न सके।

न्यू डील पॉलिसी का मूल्यांकन—

- इस नीति की सफलता व असफलता के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार, यह नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही। इनका मानना है कि आर्थिक संकट से उबरने में 'न्यू डील पॉलिसी' की अपेक्षा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हो रहे बदलावों का अधिक योगदान रहा। कई कीन्सीयन अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यह वास्तव में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान बढ़ता हुआ सरकारी खर्च था, जिसने महामंदी को समाप्त किया। सैन्य बंदूकें, टैंक, जहाज और विमान बड़े पैमाने पर उत्पादित किये गए जिससे की रोजगार में वृद्धि हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत में स्वतः ही बेरोजगारी घटने लगी। सरकार की आर्थिक सहायता की नीति से राष्ट्रीय ऋण में भारी वृद्धि हुई। यह नीति अर्थव्यवस्था की मौलिक समस्याओं को दूर नहीं कर सकी।
 - कई विद्वानों ने इस नीति को सफल बताया है जैसे कि न्यू डील ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था को मजबूत किया। लोगों में विश्वास बहाल किया, रोजगार के अवसरों का सृजन किया। उत्पादन में हुई इस वृद्धि ने औद्योगिक समृद्धि को बहाल किया। वर्ष 1940 तक संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक गतिविधियाँ सामान्य होने लगीं।
 - इस प्रकार, यह नीति अपनी सीमाओं के बावजूद मंदी को दूर करने में सफल रही, हालाँकि अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था को संकट से उबारने हेतु न्यू डील पॉलिसी के तहत लेसेज फेयर का त्याग कर दिया गया, किंतु पूंजीवाद के तत्त्वों का त्याग नहीं किया गया। रूजवेल्ट द्वारा कुछ समाजवादी तत्त्वों को अर्थव्यवस्था को मंदी से उबारने के लिये उसी प्रकार स्वीकार किया गया जैसा कि रूस में लेनिन द्वारा वर्ष 1920-21 के दौरान रूस की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिये नई आर्थिक नीति के तहत अल्पकालिक समय के लिये पूंजीवादी तत्त्वों को समाहित किया गया था।
 - इस प्रकार 'न्यू डील' से एक नए मौलिक सिद्धांत को मान्यता मिली कि आम लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक हितों के प्रति सरकारी व्यवस्था का पूरा दायित्व है। अमेरिकी गणराज्य तथा उसकी अर्थव्यवस्था में शायद सबसे बड़े संकट का सामना करने का यह एक साहसपूर्ण तथा मानवतावादी तरीका था जिसने अमेरिका को कल्याणमूलक राज्य में परिणत किया तथा जिसके फलस्वरूप जनता में लोकतंत्रीय व्यवस्था के प्रति पुनर्विश्वास पैदा हुआ।
6. सांप्रदायिकता का उदय अवश्य ही अंग्रेजों के भारत में प्रवेश के साथ हुआ, परंतु 1885 के बाद कॉन्ग्रेस के द्वारा सांप्रदायिकता के स्वरूप को पूरी तरह समझ पाने में असफल रहने के कारण इसके गंभीर परिणाम हुए। टिप्पणी कीजिये।

The rise of communalism certainly coincided with the entry of the British into India, but after 1885, due to the failure of Congress to fully understand the nature of communalism, it had serious consequences. Comment. 10 अंक (10 Marks)

उत्तर :

भारत में सांप्रदायिक समस्या भूतकाल से निरंतरता का परिणाम नहीं अपितु कुछ विशिष्ट परिस्थितियों एवं विभिन्न शक्तियों के गठजोड़ का परिणाम थी। भारत में सांप्रदायिकता के वर्तमान स्वरूप की जड़ें अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारतीय समाज में स्थापित हुईं। यह उपनिवेशवाद का प्रभाव था तथा उपनिवेशवाद के खिलाफ उत्पन्न संघर्ष की आवश्यकता का प्रतिफल थी, जिसका विकास संस्थागत रूप से सन् से प्रारंभ हुआ एवं 1885 के बाद तीव्र हो गया।

- सन् के विद्रोह के समय भी हिंदू-मुस्लिम एकजुट होकर सामने आए, परंतु इसके बाद स्थितियों में परिवर्तन आया तथा अंग्रेजों द्वारा 'फूट डालो राज करो' की नीति के माध्यम से भारत में अपने हितों की पूर्ति की गई। इसके लिये उनके द्वारा समय-समय पर 'सांप्रदायिक कार्ड' का प्रयोग किया गया। ई. के पश्चात् मुसलमानों को ब्रिटिश राज का शत्रु माना गया एवं उन्हें प्रशासनिक-आर्थिक लाभों से वंचित रखा गया। फारसी को हटाकर 'अंग्रेजी' को महत्त्व दिया जाने लगा।
- 1870 ई. के बाद भारतीय राष्ट्रवाद के उभार के कारण अंग्रेज एवं मुसलमानों के बीच अच्छे संबंध की वकालत की जाने लगी। विलियम हंटर की पुस्तक 'दि इंडियन मुसलमान' ने इस संदर्भ में मुख्य भूमिका निभाई। सर सैयद अहमद खाँ ने कॉन्ग्रेस के प्रतिरोध का कार्य शुरू किया, अंग्रेजों ने पुरस्कार स्वरूप अपने प्रयासों द्वारा सांप्रदायिकता को बढ़ाने के लिये संस्थागत एवं नीतिगत उपकरण प्रस्तुत किये।
- 1885 ई. में कॉन्ग्रेस की स्थापना से उत्पन्न राष्ट्रवाद को कमजोर करने के लिये ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक प्रयास किये गए। वर्ष 1905 में बंगाल विभाजन, वर्ष 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना, वर्ष 1909 का मार्ले-मिंटो सुधार, वर्ष 1932 में 'कम्यूनल अवॉर्ड', वर्ष 1940 के लाहौर अधिवेशन, वर्ष 1946 में मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही ने सांप्रदायिकता को अपने उत्कर्ष पर पहुँचाया।

- अल्पसंख्यक लामबंदी के विरोध में बहुसंख्यक लामबंदी भी शुरू हो गई। आर्य समाज, हिंदू महासभा, हिंदू लीग, स्वयं सेवक संघ ने बहुसंख्यक लामबंदी का प्रयास किया और सांप्रदायिकता को चरम पर पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बीसवीं सदी में सांप्रदायिकता के विकास को राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा ही रोका जा सकता था। सांप्रदायिक विचारधारा, राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्तियों के द्वारा ही परास्त की जा सकती थी। किंतु, एक राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जनसाधारण में सांप्रदायिकता फैलने से न रोक सकी। कांग्रेस राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता के प्रति कटिबद्ध थी और भारतीयों में एकता लाने की इच्छुक थी। उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष भी किया, लेकिन वह असफल रही। इसके कई कारण थे।

- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सांप्रदायिक शक्तियों का हमेशा से दृढ़तापूर्वक विरोध किया और धर्मनिरपेक्षता से उसकी प्रतिबद्धता हमेशा गहरी एवं संपूर्ण रही। फिर भी, वह सांप्रदायिक चुनौती का सामना करने में सफल नहीं हो सकी। इसका कारण था कि कांग्रेस सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक आधार को और इसके वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाई। कांग्रेस यह नहीं समझ पाई कि यह साम्राज्यवादी विचारधारा का ही एक तत्व था। पुनः सांप्रदायिकता के उदारवादी स्वरूप से रूढ़िवादी स्वरूप में परिवर्तित होने की एक लंबी प्रक्रिया थी, जो बाद के दिनों में गंभीर चुनौती दे सकता था, यह समझा नहीं जा सका। फलतः कांग्रेस कोई प्रभावी रणनीति नहीं बना सकी।
- कांग्रेस सांप्रदायिकता के स्वरूप को पूरी तरह नहीं समझ सकी जिसके कारण इससे लड़ने के लिये एक समग्र नीति तैयार करने में वह असफल रही। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस विभिन्न अस्थायी कार्यनीतियाँ अपनाती रही। साथ ही, सांप्रदायिकता के तेजी से बदलते हुए स्वरूप के साथ कांग्रेस अपनी गति कायम नहीं रख सकी।
- राष्ट्रीय आंदोलन में कुछ हिंदू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ प्रवेश कर गई जिन्होंने कांग्रेस द्वारा मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने और उन्हें अपने साथ ले चलने के प्रयत्न में बाधा उत्पन्न की, साथ ही कुछ हिंदू प्रतीकों (जैसे रामराज्य) के इस्तेमाल ने भी इसमें बाधा उत्पन्न की।
 - सांप्रदायिक शक्तियों से निपटने में कांग्रेस ने क्रियान्वयन के स्तरों पर कभी-कभी गलत चुनाव किये। कांग्रेस ने सांप्रदायिक शक्तियों को रियायत देने का प्रयास किया और उनके साथ समझौता किया जिसके कारण सांप्रदायिक समूहों को राजनैतिक प्रतिष्ठा मिलने लगी। कुछ अन्य अवसरों पर समझौते के मौके गँवा दिये गए और गतिरोध की स्थिति पैदा हो गई।
 - कांग्रेस का यही मानना था कि राष्ट्रीयता के विकास के साथ सांप्रदायिकता का स्वतः पतन हो जाएगा, परिणामस्वरूप सांप्रदायिक मुद्दे को बहुत अधिक गंभीरता से नहीं लिया गया। राजनीतिक तौर पर मुस्लिम समुदाय को शिक्षित करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया जिससे उनकी अलग-थलग स्थिति समाप्त नहीं हो पाई और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी सहभागिता स्थापित न हो सकी। साथ ही, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर पर सांप्रदायिकता के विरुद्ध कोई अभियान शुरू नहीं किया गया, क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन में सांस्कृतिक आंदोलन की सीमाएँ थीं।
 - कांग्रेस द्वारा वर्ष 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार के तहत मुस्लिमों को दिये गए पृथक् निर्वाचन का तत्कालीन समय में विरोध, वर्ष 1916 के लखनऊ पैक्ट द्वारा मान्यता देना और वर्ष 1928 की नेहरू रिपोर्ट द्वारा इसका प्रतिरोध करना आदि ने भी मुस्लिमों में कांग्रेस के प्रति अविश्वास को बढ़ावा दिया।
 - राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सांप्रदायिक राजनीति से जूझने के लिये शीर्ष स्तर के सांप्रदायिक नेताओं से वार्ता के द्वारा एकता स्थापित करने की रणनीति बनाई। किंतु, यह रणनीति पूर्णतः विफल रही क्योंकि इस कोशिश का स्पष्ट मललब था कि कांग्रेस ने परोक्ष रूप से यह स्वीकार कर लिया था कि सांप्रदायिक नेता अपने-अपने समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
 - कांग्रेस संगठन में भी हिंदूवादी आदर्श, सांप्रदायिकता को रोकने के लिये ऋणात्मक पक्ष था। मुस्लिम सांप्रदायिक शक्तियों से समझौता न हो पाने के कारण जहाँ उनकी ताकत बढ़ती थी, वहीं उन्हें दी गई किसी भी महत्वपूर्ण रियायत से हिंदू सांप्रदायिकता को खुराक मिलती थी। सांप्रदायिकता को रोकने के लिये सामाजिक-आर्थिक दशा में सुधार की आवश्यकता थी, चूँकि सत्ता ब्रिटिश हाथों में थी और सामाजिक-आर्थिक दशा पर राष्ट्रवादी शक्तियों का कोई नियंत्रण नहीं था।

फिर भी इन सीमाओं को समस्या की जटिलता के संदर्भ में देखा जाना चाहिये, विशेषकर सरकार के सांप्रदायिकता के प्रति रवैये को देखते हुए इस समस्या को सुलझाना अत्यंत कठिन कार्य हो गया था। अंग्रेजी सरकार ने विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच समझौता न होने देने के हर संभव प्रयास किये। कांग्रेस मुसलमानों को जो भी विधाएँ देने की कोशिश करती अंग्रेजी सरकार उससे अधिक रियायतें दे देती थी और कांग्रेस एक बार फिर मुसलमानों का समर्थन पाने में असफल रह जाती थी। सांप्रदायिकता की चुनौती का सही जवाब था विचारधारात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरों पर सांप्रदायिकता के खिलाफ निर्भय प्रतिरोध, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं किया जा सका, जो अंततः देश के विभाजन का कारण बना।



इस प्रकार, विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि कॉन्ग्रेस ने सांप्रदायिकता की जड़ पर चोट नहीं की, मुस्लिमों की आर्थिक समस्याओं के निराकरण का प्रयास नहीं किया और नेतृत्व के स्तर पर समस्या का समाधान खोजती रही। अतः मुस्लिम जनता के मध्य कॉन्ग्रेस की पैठ नहीं बन पाई और कॉन्ग्रेस सांप्रदायिकता के स्वरूप को पूरी तरह समझ पाने में असफल रही।

7. 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों ने समाज को विभिन्न बुराइयों से मुक्ति दिलाने के साथ ही स्वतंत्रता संग्राम के लिये आधार प्रदान किया। विश्लेषण कीजिये।

The socio-religious reform movements of the 19th and 20th centuries provided the basis for the freedom struggle along with ridding the society of various evils. Analyze. **10 अंक (10 Marks)**

उत्तर :

आधुनिक शिक्षा प्राप्त बुद्धजीवियों में यह चेतना फैली कि औपनिवेशिक शासन का मूल कारण तो भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में मौजूद कुरीतियों में है। इसी कारण, आधुनिक शिक्षा एवं पाश्चात्य विचारों से प्रभावित भारतीयों ने अपनी सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों को दूर करने के क्रम में सुधार आंदोलन आरंभ किये। यह सुधार आंदोलन यूरोपियन प्रबोधन एवं पुनर्जागरण से प्रेरित था। 19वीं एवं 20वीं सदी में प्रारंभ इन सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने निम्नलिखित बुराइयों से भारतीय समाज को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया व काफी हद तक सफल भी रहे-

- इन सुधारकों के प्रयासों से महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये कुछ कानूनी उपाय शुरू किये गए। उदाहरण के लिये 1856 ई. में पारित विधवा पुनर्विवाह अधिनियम से पुनर्विवाह संभव हो गया और विधवाओं की स्थिति में सुधार हुआ। 1872 ई. में नेटिव मैरिज एक्ट पारित कर अंतर-जातीय और अंतर-सांप्रदायिक विवाह को मान्यता दी गई। बाल विवाह को रोकने के लिये इसके बाद शारदा अधिनियम, 1929 को पारित किया गया।
- शिशु हत्या पर प्रतिबंध लगाने के लिये 1795 ई. में शिशु वध प्रतिबंध अधिनियम, सती प्रथा पर प्रतिबंध के लिये 1829 ई. में सती प्रथा प्रतिबंध अधिनियम, दास प्रथा पर प्रतिबंध के लिये 1823 ई. में कानून पारित किये गए।
- ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, रमाबाई के प्रयासों से निम्न वर्गों के उत्थान के प्रयास शुरू हुए एवं महार आंदोलन ने जातीय आंदोलनों को मजबूती प्रदान की।
- इन सुधारकों द्वारा आधुनिक शिक्षा और स्त्री शिक्षा के लिये विशेष प्रयास किये गए। उदाहरणस्वरूप डी.के. कर्वे द्वारा भारत का पहला महिला विश्वविद्यालय खोला गया।
- ब्रह्म समाज ने अपने विचारों को वेदों और उपनिषदों पर आधारित करके यह बताया कि ईश्वर एक है, सभी धर्म सत्य पर बल देते हैं, मूर्ति-पूजा और कर्मकांड निरर्थक हैं तथा सामाजिक कुरीतियों का धर्म से कोई संबंध नहीं है। ब्रह्म समाज ने सती प्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह, जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों का विरोध किया तथा स्त्री शिक्षा, अंतर-जातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह आदि को प्रोत्साहन दिया।
- सामाजिक क्षेत्र में आर्य समाज ने बाल-विवाह, बहुविवाह, पर्दा प्रथा, जाति प्रथा, सती प्रथा आदि कुरीतियों का विरोध किया। इस प्रकार, हिंदू धर्म को अंधविश्वासों व रूढ़ियों से मुक्त करके उसको मूल रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आर्य समाज को ही है।
- स्वामी विवेकानंद ने जाति प्रथा, कर्मकांडों तथा अंधविश्वासों की निंदा की और सभी धर्मों की मौलिक एकता पर बल दिया। उन्होंने जाति-पाति, छुआछूत और संप्रदायवाद से ऊपर उठने का संदेश दिया।
- ऐसे ही प्रयास अन्य धर्मों जैसे- सिख, पारसी, मुस्लिम आदि में भी किये गए मुस्लिम धर्म के अंतर्गत अलीगढ़ एवं अहमदिया आंदोलन, सिख धर्म में अकाली आंदोलन एवं पारसी धर्म के अंतर्गत रहनुमाई मजदियासन सभा जैसे धार्मिक-सामाजिक सुधारक आंदोलनों ने जन्म लिया। हालाँकि, इनमें सुधार के विषय हिंदू धर्म से इतर थे।

धर्म सुधार आंदोलनों ने न केवल सामाजिक बुराइयों पर प्रहार किया बल्कि भारतीयों के आत्मविश्वास, आत्मसम्मान तथा अपने देश पर गर्व व अभिमान की भावना सिखाकर निम्नलिखित तरीकों से राष्ट्रीय विभाजन का आधार भी तैयार कर दिया।

- इन सुधार आंदोलनों से अनेक भारतीयों को आधुनिक दुनिया के साथ जोड़ा। लोग भारतीय के रूप में पहचान बनाने में अधिक जागरूक हो गए। अंततः लोगों का एकजुट होना भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और ब्रिटिश के विरुद्ध संघर्ष के लिये जिम्मेदार है।
- सामाजिक-धार्मिक सुधारों ने आधुनिक राष्ट्रीय जागरण में अग्रिम भूमिका निभाई। सामाजिक-धार्मिक नेताओं ने भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का अन्वेषण किया। उन्होंने विभिन्न प्रकार के सामाजिक-धार्मिक आडंबर पर चोट कर आधुनिक भारत की सामाजिक शक्ति को



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

10



मजबूत किया। इन आंदोलनों ने भारतीयों को आधुनिक राजनीतिक विचारधारा और स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के उदात्त विचारों से अवगत कराया। इन सब से जनता में मानवतावादी नैतिकता का प्रचार हुआ तथा राजनीतिक स्वतंत्रता व आधुनिक विकास की भावनाओं का प्रसार हुआ। दयानंद सरस्वती एवं विवेकानंद के स्वदेशी एवं स्वावलंबन जैसे नारों ने लोगों में एक नई चेतना का प्रसार किया। उदाहरणस्वरूप, राजाराम मोहन राय एवं केशवचंद्र सेन के प्रयासों से आधुनिकता के विचारों का प्रसार उन स्थानों पर हुआ जहाँ-जहाँ ब्रह्म समाज के मुख्यालय स्थापित किये गए।

- अपने धार्मिक अतीत की आधुनिक बुद्धि एवं विवेकवादी शब्दों में व्याख्या करके धार्मिक विश्वासों से अनेक भ्रामक तथा बुद्धिविरोधी तत्त्वों को बाहर फेंककर इन सुधारकों ने अपने अनुयायियों को ब्रिटिश अधिकारियों के इस व्यंग्य का उत्तर देने योग्य बना दिया कि “यहाँ का समाज पतनशील और हीन है अतः भारत में राष्ट्र निर्माण संभव नहीं है”।
- राष्ट्रीय एकता के प्रसार के लिये संप्रेषण का माध्यम हिंदी को बनाने में दयानंद सरस्वती ने प्रारंभिक भूमिका का निर्वाह किया। गुजराती भाषी होते हुए भी इन्होंने सत्यार्थ प्रकाश को मूलतः हिंदी भाषा में लिखा। ब्रह्म समाज, रामकृष्ण संस्था, देव समाज आदि संस्थाओं ने भी हिंदी के प्रसार में मुख्य भूमिका निभाई।
- महिला आधारित सुधारों ने 20वीं सदी तक आते-आते महिलाओं की स्थिति को मध्ययुगीन मानसिकता से बाहर निकालकर आधुनिकता की ओर प्रवृत्त किया। पर्दा प्रथा की समाप्ति, शिक्षा की प्राप्ति, सती प्रथा की समाप्ति, विधवाओं की स्थिति में सुधार ने 20 सदी में प्रारंभ गांधीवादी आंदोलनों में महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिये तैयार कर दिया था।
- 20वीं सदी में और वर्ष 1919 के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन सामाजिक सुधार का मुख्य प्रचारक बन गया। स्वतंत्रता ने विचारों को भारतीय भाषाओं के द्वारा जनता तक पहुँचाने के लिये प्रयोग किया गया। उन्होंने वर्ष 1930 में उपन्यास, नाटक, लघु कथाएँ, कविता, प्रेस तथा सिनेमा का अपने विचारों को प्रचारित करने में प्रयोग किया। आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, जागरूकता, देशभक्ति तथा एक विकसित राष्ट्रीय चेतना की भावना को इन आंदोलनों द्वारा बढ़ावा दिया गया। हालाँकि, इनका प्रारंभिक उद्देश्य सामाजिक-सांस्कृतिक जागृति उत्पन्न करना था, परंतु इसने राष्ट्रीय जागृति भी उत्पन्न कर दी जैसे कि रानाडे ने जो सामाजिक जागृति के लेख लिखे उसमें ब्रिटिश आर्थिक शोषण के चरित्र को भी उद्घाटित किया।

यद्यपि, सुधार आंदोलनों की कुछ सीमाएँ थीं। ये एक बहुत छोटी जनसंख्या को प्रभावित कर पाए थे जो ज्यादातर शिक्षित वर्ग से ही थे। इन सुधार-आंदोलनों में एक शहरी-प्रवृत्ति भी थी। केवल आर्य समाज को छोड़कर, जिसका कि प्रभाव नीची जातियों के आंदोलनों पर व्यापक रूप से था, दूसरे सुधार आंदोलनों का क्षेत्र ऊँची जाति व वर्ग तक ही सीमित था। उदाहरण के लिये बंगाल का ब्रह्म समाज “भद्रलोक” की समस्याओं से संबंधित था तो अलीगढ़ आंदोलन ऊँचे वर्ग के मुसलमानों की समस्याओं से। ये आम जनता, किसानों एवं गरीब जनता तक भी नहीं पहुँच सके। सुधारकों की एक दूसरी सीमा ब्रिटिश राज्य व भारत के प्रति उनके दृष्टिकोण के प्रत्यक्ष बोध में थी। वे भ्रातिपूर्ण ढंग से यह सोचते रहे कि ब्रिटिश शासन तो भगवान द्वारा नियोजित है और वे ही भारत को आधुनिकीकरण के मार्ग पर ले जाएंगे। चूँकि, उनकी भारतीय समाज के आदर्श स्वरूप की संकल्पना 19वीं शताब्दी के ब्रिटेन का प्रतिरूप थी, इसीलिये उन्हें लगा कि भारत को ब्रिटेन जैसा बनाने के लिये ब्रिटिश शासन जरूरी है।

फिर भी, आधुनिक भारत के क्रमिक विकास में 19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों ने अति महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने समाज को जनतांत्रिक बनाने, घृणित रिवाजों व अंधविश्वासों को दूर करने, ज्ञान के प्रसार और एक विवेकपूर्ण तथा आधुनिक दृष्टिकोण के विकास का समर्थन किया है। सुधार-आंदोलनों की गतिविधियों का कार्यक्षेत्र केवल किसी एक धर्म तक ही सीमित न होकर पूरे समाज तक था। हालाँकि, उद्देश्य प्राप्ति में उन्होंने विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया और उनके बीच समय का अंतराल भी रहा, किंतु तात्कालिक परिप्रेक्ष्य एवं उद्देश्य में ध्यान देने योग्य एकता का परिचय उन्होंने दिया। उन्होंने एक खुशहाल आधुनिक भारत की दृष्टि प्रस्तुत की। उनकी इस दृष्टि ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिये पृष्ठभूमि भी निर्मित कर दी थी।

8. अंग्रेजों द्वारा आवश्यकतानुसार भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किये गए। उनके द्वारा लागू की गई भू-राजस्व प्रणाली क्षेत्र और स्वरूप में तो भिन्न थी, परंतु उद्देश्य एक ही था। टिप्पणी कीजिये।

Extensive changes were made in the Indian land revenue system as per the need of British. The land revenue system implemented by them was different in scope and nature but the purpose was same. Comment. **10 अंक (10 Marks)**

उत्तर :

- ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन से पूर्व भारत में जो परंपरागत भू-राजस्व व्यवस्था थी उसमें भूमि पर किसानों का अधिकार था तथा फसल का एक भाग सरकार को दे दिया जाता था। 1765 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकारों (सम्राट की ओर से कर एकत्र



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

11



करने का अधिकार) की प्राप्ति के बाद से कंपनी की एक प्रमुख चिंता भूमि राजस्व संग्रह में वृद्धि करना था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि कंपनी के व्यापार, प्रशासन की लागत और भारत में ब्रिटिश विस्तार के लिये युद्धों का व्यय आदि के कारण कंपनी के खर्चे बढ़ रहे थे और भू-राजस्व ही ऐसा माध्यम था जिससे कंपनी को अधिकाधिक धन प्राप्त हो सकता था।

- यद्यपि, क्लाइव और उसके उत्तराधिकारी ने प्रारंभ में भू-राजस्व पद्धति में कोई बड़ा बदलाव नहीं किया, पुरानी भू-राजस्व व्यवस्था को ही जारी रखा किंतु, भू-राजस्व की दरें बढ़ा दी थी। किंतु, कुछ वर्षों पश्चात् कंपनी ने अपने खर्चों की पूर्ति एवं अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से भारत की कृषि व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया। इसके लिये 1773 ई. के बाद से कंपनी द्वारा स्वयं भू-राजस्व का प्रबंधन करने का निर्णय लिया गया।
- वर्ष 1813 तक प्रशासन और न्यायिक व्यवस्था में लगभग सभी बड़े बदलाव भू-राजस्व से संबंधित थे। उन्होंने राजस्व प्रशासन की पुरानी व्यवस्थाओं को त्यागकर राजस्व संग्रह की नवीन नीतियाँ पेश कीं। भारत में भू-राजस्व संग्रहण की तीन प्रमुख प्रणालियाँ विद्यमान थीं जिसमें स्वरूपगत एवं क्षेत्रगत अंतर था लेकिन उद्देश्य समान था।
- **इजारेदारी प्रथा :** इस प्रणाली को 1772 ई. में वॉरेन हेस्टिंग्स ने बंगाल में लागू कराया। इस प्रथा में पंचवर्षीय ठेके की व्यवस्था थी तथा सबसे अधिक बोली लगाने वाले को भूमि ठेके पर दी जाती थी। इस व्यवस्था से कंपनी को लाभ तो हुआ, परंतु उनकी वसूली में अस्थिरता आई। 1777 ई. में पंचवर्षीय ठेके की जगह ठेके की अवधि एक वर्ष कर दी गई। फिर इस प्रणाली को खत्म कर स्थायी बंदोबस्त नामक नवीन प्रणाली अपनाई गई।

स्थायी बंदोबस्त-

इसे 'जमींदारी व्यवस्था' या 'इस्तमरारी व्यवस्था' के नाम से भी जाना जाता है। लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा 1793 ई. में बंगाल और बिहार में स्थायी बंदोबस्त की शुरुआत की गई थी। बाद में इसे उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी जिलों और वाराणसी तक विस्तृत किया गया। इन क्षेत्रों में पहले से ही जमींदारी जैसी व्यवस्था मौजूद थी जिससे ऐसी ही प्रथा लागू करना आसान था। इस व्यवस्था के अंतर्गत ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्रफल का लगभग 19% भाग सम्मिलित था।

इस प्रणाली की विशेषताएँ-

- जमींदारों को भूमि का मालिक बनाया गया, उन्हें रैयत से भू-राजस्व एकत्र करने में सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करना था। जमींदारों के स्वामित्व के अधिकार को वंशानुगत और हस्तांतरणीय बना दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया ताकि जमींदार कंपनी की अत्यधिक भू-राजस्व मांग का समय पर भुगतान करने में सक्षम हो सकें।
- जमींदारों को किसानों से मिलने वाले किराए का 10/11वाँ हिस्सा राज्य को देना था, केवल 1/11वाँ हिस्सा अपने लिये रखना था। किंतु, उनके द्वारा भू-राजस्व के रूप में भुगतान की जाने वाली रकम दर नियत थी। राजस्व का प्रारंभिक निर्धारण मनमाने ढंग से और जमींदारों के परामर्श के बिना किया गया था।
- 1793 ई. से पहले कंपनी भू-राजस्व में उतार-चढ़ाव से परेशान थी। स्थायी बंदोबस्त ने कंपनी के आय को अधिकतम करने में सक्षम बनाया, क्योंकि भू-राजस्व अब पहले की तुलना में अधिक निर्धारित किया गया था। लाखों किसानों की अपेक्षा जमींदारों की एक छोटी संख्या के माध्यम से राजस्व का संग्रह आसानी से एवं मितव्ययी तरीके से किया जा सकता था।

रैयतवाड़ी बंदोबस्त

- इसे ब्रिटिश अधिकारियों रीड और सर थॉमस मुनरो की सिफारिशों पर पेश किया गया था।
- ब्रिटिश अधिकारियों का मानना था कि दक्षिण और दक्षिण-पश्चिमी भारत में कोई जमींदार या सामंत नहीं हैं। इसलिये यहाँ जमींदारी व्यवस्था को लागू करना कठिन था। इसके अलावा, सरकार को लगा कि राजस्व को अनावश्यक रूप से जमींदारों के साथ साझा किया जा रहा है जिससे उसका मुनाफा कम हो गया है। अतः किसानों से प्रत्यक्ष रूप से राजस्व ठेके की व्यवस्था की गई।
- रैयतवारी बंदोबस्त उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में मद्रास और बॉम्बे प्रेसीडेंसी के कुछ हिस्सों में लागू किया गया था। बाद में मालाबार, कोयंबटूर, मद्रास, असम और मदुरै राज्य में इस व्यवस्था को लागू किया गया। तत्पश्चात् इसे महाराष्ट्र और पूर्वी बंगाल तक बढ़ा दिया गया था। इस व्यवस्था के अंतर्गत ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्रफल का लगभग 51% भाग सम्मिलित था।

विशेषताएँ-

- इस प्रणाली के तहत कर सीधे सरकार द्वारा एकत्र किये जाते थे। इसने सरकार और रैयत (किसान) के बीच सीधा संबंध स्थापित किया।
- भू-राजस्व के भुगतान के साथ ही कृषक को उसके भू-खंड के स्वामी के रूप में मान्यता दी गई।



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

12

- रैयतवाड़ी व्यवस्था के तहत बंदोबस्त को स्थायी नहीं बनाया गया था। इसे 20 से 30 वर्षों के बाद समय-समय पर संशोधित करने का प्रावधान था।
- रैयतों को जमीन बेचने, गिरवी रखने और पट्टे पर देने का अधिकार था, लेकिन उन्हें समय पर अपने करों का भुगतान करना पड़ता था। कर का भुगतान करने में विफल रहने पर उन्हें भूमि से बेदखल कर दिया जाता था।
- अधिकारियों को यह भी आशा थी कि रैयतवाड़ी व्यवस्था शुरू करने से किसानों की क्रय शक्ति बढ़ेगी, जिससे भारत में ब्रिटिश वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। औद्योगिक पूंजीवाद की मांगों को पूरा करने के लिये ऐसे व्यवस्था पर जोर दिया गया।
- अधिकांश क्षेत्रों में तय किया गया भू-राजस्व अत्यधिक था, सरकार ने अपनी मर्जी से भू-राजस्व बढ़ाने का अधिकार बरकरार रखा, अकाल और बाढ़ के दौरान भी रैयत को राजस्व का भुगतान करना पड़ता था अन्यथा वे भूमि को बेदखल करने के लिये मजबूर हो जाते थे।
- किसानों को इस भू-राजस्व व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ और उन्हें लगा कि छोटे ज़मींदारों के स्थान पर एक विशाल ज़मींदार (ब्रिटिश सरकार) आ गया है।
- अधिकतम राजस्व वसूली के लिये किसानों को नकदी फसलें बोनो के लिये प्रेरित किया गया। नकदी फसलों की मांग व पूर्ति वैश्विक व्यापार से संचालित होने लगी। उदाहरणस्वरूप जब अमेरिकी गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद कपास की कीमतों में गिरावट आई तो किसानों को सबसे अधिक नुकसान हुआ। इसने 1875 ई. में दक्कन के कृषि दंगों के रूप में हुए विद्रोह के लिये परिस्थितियों का निर्माण किया।

महालवाड़ी प्रणाली-

- इसे हाल्ट मैकेंजी द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इस व्यवस्था में राजस्व संग्रह 'महाल' से किया जाता था। गंगा घाटी, उत्तर-पश्चिम प्रांतों, मध्य भारत के कुछ हिस्सों और पंजाब में लागू किया गया था। इस व्यवस्था के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल की 30% भूमि आई।

विशेषताएँ-

- पंजाब एवं पश्चिमी अवध में महालवाड़ी व्यवस्था शुरू की गई जिसे ग्राम व्यवस्था (महाल) के नाम से जाना जाता है। इस व्यवस्था में भू-राजस्व का बंदोबस्त एक पूरे गाँव या महाल में ज़मींदारों या उन प्रधानों के साथ किया गया, जो सामूहिक रूप से पूरे गाँव या महाल का प्रमुख होने का दावा करते थे। इस व्यवस्था में लगान का निर्धारण महाल या संपूर्ण गाँव के उत्पादन के आधार पर होता था।
- इस व्यवस्था में राजस्व बंदोबस्त, गाँव (महाल) द्वारा गाँव के ज़मींदारों या परिवारों के मुखियाओं के साथ किया जाना था, जो सामूहिक रूप से गाँव या संपत्ति के ज़मींदार होने का दावा करते थे। हालाँकि, भूमि के स्वामित्व के अधिकार व्यक्तिगत रूप से किसानों के पास थे, जो अपनी ज़मीन को गिरवी रख सकते थे। परंतु मुखिया या महाल प्रमुख को यह अधिकार था कि वह लगान न अदा करने वाले किसान को उसकी भूमि से बेदखल कर दें।
- चूँकि, उत्तरी भारत में महालवाड़ी प्रणाली के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र उपजाऊ थे, इसलिये सरकार ने फसल उत्पादन के 50% से 75% के बीच राजस्व की मांग रखी। साथ ही, भू-राजस्व की समय-समय पर समीक्षा भी की जाती थी जिससे उन्हें अधिकतम भू-राजस्व की प्राप्ति हो सके। चूँकि भू-राजस्व की दर अधिक थी अतः किसानों की भूमि खंडित हो गई, इसके अलावा इस प्रणाली ने किसानों को भूमि से बेदखल कर दिया। इन कारणों से महालवाड़ी क्षेत्रों में भूमि का उप-पट्टा अधिक आम था।
- इस प्रकार, कंपनी ने भारत में भू-राजस्व उगाही के लिये विभिन्न कृषि व्यवस्थाओं को अपनाया। इन सभी भू-राजस्व प्रणालियों के क्षेत्र एवं स्वरूप में अंतर होते हुए भी कंपनी का एकमात्र मूल उद्देश्य अधिकतम भू-राजस्व वसूलना था, न कि किसानों के भलाई के लिये कार्य करना। इसी कारण धीरे-धीरे भारतीय कृषि-व्यवस्था चौपट हो गई और यह कृषक समुदाय की ऋणग्रस्तता और गरीबी का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

9. 1909 में किये गए मॉर्ले-मिंटो सुधारों का उद्देश्य भारतीयों में बढ़ रही एकता की भावना को कमजोर करना था। ये सुधार अपने इस उद्देश्य में कहाँ तक सफल रहे? चर्चा कीजिये।

The purpose of the Morley-Minto reforms in 1909 was to weaken the growing sense of unity among Indians. To what extent were these reforms successful in their objective? Discuss. 10 अंक (10 Marks)

उत्तर :

- भारत शासन अधिनियम, 1909 जिसे साधारणतया 'मॉर्ले-मिंटो सुधारों' के नाम से जाना जाता है। यह वह अधिनियम था जिसने भारत में सांप्रदायिक राजनीति को कानूनी रूप दे दिया तथा भारत में लोगों को "फूट डालो एवं राज करो" की राज्य समर्थित संस्थागत उपकरण उपलब्ध करवा दिया, जिसने धर्म के आधार पर अंततः भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

- लॉर्ड कर्जन ने वर्ष 1905 में बंगाल का विभाजन किया था। इसके परिणामस्वरूप बंगाल में बड़े पैमाने पर विरोध हुआ। कॉंग्रेस में भी असंतोष का उभार देखा गया। कॉंग्रेस व लोगों के असंतोष को दूर करने, विधान परिषद् में प्रतिनिधियों की संख्या को बढ़ाने एवं प्रशासनिक सुधारों को आगे बढ़ाने के लिये वर्ष 1909 में भारतीय परिषद् अधिनियम को लाया गया।
 - इस अधिनियम द्वारा चुनाव प्रणाली के सिद्धांत को भारत में पहली बार मान्यता मिली। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में पहली बार भारतीयों को प्रतिनिधित्व मिला साथ ही, इस अधिनियम द्वारा मुसलमानों को प्रतिनिधित्व के मामले में विशेष रियायतें दी गईं, यथा-मुसलमानों को केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषद् में पृथक् निर्वाचन प्रणाली के माध्यम से जनसंख्या के अनुपात में अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया तथा मुस्लिम मतदाताओं के लिये आय की योग्यता को भी हिंदुओं की तुलना में कम रखा गया। इसलिये, लॉर्ड मिंटो को भारत में सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल का जन्मदाता एवं सांप्रदायिकता का संस्थागत पिता भी माना जाता है।
 - सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व से प्रेरित होकर सिखों ने भी अलग प्रतिनिधित्व की मांग की और उन्हें यह वर्ष 1919 के अधिनियम में मिल गया। इसी प्रकार वर्ष 1935 के एक्ट में हरिजनों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपीय तथा एंग्लो-इंडियनों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया। इस प्रकार इस अधिनियम ने लोगों को जाति धर्म के नाम पर बाँट दिया।
 - सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की शुरुआत करने का उद्देश्य लोगों को सांप्रदायिक आधारों पर विभाजित करके देश में राष्ट्रवाद के बढ़ते ज्वार को रोकना था। इस कदम की परिणति धार्मिक आधार पर देश के विभाजन में देखी गई। वस्तुतः द्विराष्ट्र सिद्धांत का बीजारोपण मार्ले-मिंटो के पृथक् निर्वाचन द्वारा प्रारंभ हुआ, जिसे समय-समय पर खाद-पानी दिया गया। इसका असर सिर्फ मुसलमानों पर ही नहीं हुआ बल्कि अन्य समुदायों ने भी अंग्रेजों को अधिक सहयोग देने का वादा किया। यद्यपि उन्हें विशेष कुछ हाथ नहीं लगा। वर्ष 1919 में दलित, सिख एवं अन्य वर्गों तक इसका विस्तार किया गया। वर्ष 1916 में जब कॉंग्रेस द्वारा एकबार पृथक् निर्वाचन पद्धति की स्वीकृति दे दी गई तब भविष्य में इसे अस्वीकृत करना कठिन हो गया। जब वर्ष 1928 में नेहरू रिपोर्ट में पृथक् निर्वाचन को अस्वीकार किया गया तो जिन्ना ने विरोधस्वरूप 14 सूत्री मांगें प्रस्तुत की।
 - वर्ष 1937 के निर्वाचन में क्षेत्रीय स्तर पर पंजाब, बंगाल, सिंध एवं पश्चिमोत्तर भारत में लीग का जनाधार बढ़ रहा था। वर्ष 1939 तक लीग की सदस्यता 30 लाख से ऊपर जा चुकी थी, जिन्ना स्वयं को मुस्लिमों के एकमात्र प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर चुके थे, वर्ष 1946 में लीग अत्यधिक उग्र रूप धारण कर चुकी थी, लीग के सफलता का प्रमुख कारण था पृथक् निर्वाचन रूपी ब्रिटिश प्रदत्त पृथक् निर्वाचन की प्रणाली।
 - मार्ले मिंटो सुधारों के उद्देश्य को समझने के लिये गांधी जी और के.एम. मुंशी के वक्तव्य ही काफी हैं-
 - महत्मा गांधी के शब्दों में “मिंटो-मार्ले सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया।”
 - के. एम. मुंशी के शब्दों में “इन्होंने उभरते प्रजातंत्र को जान से मार डाला।”
 - मार्ले मिंटो के अंतर्गत प्रदत्त पृथक् निर्वाचन मंडल का उद्देश्य सरकार द्वारा मुस्लिम लीग को राष्ट्रवाद के विरुद्ध मजबूत हथियार के तौर पर आजमाना था और वे इसमें काफी हद तक सफल भी रहे। वर्ष 1947 तक आते आते देश के विभाजन में इसमें मुख्य भूमिका निभाई।
10. मुस्लिम लीग एवं अंग्रेजों के मध्य सहमति तो भारत के विभाजन का आधार थी ही, परंतु कॉंग्रेस ने विभाजन को रोकने के अपने प्रयत्नों को क्यों छोड़ दिया? क्या यह कॉंग्रेस के नेताओं का सत्ता के प्रति लोभ का परिणाम था? टिप्पणी कीजिये।

The agreement between the Muslim League and the British was the basis for the partition of India, but why did the Congress abandon its efforts to stop the partition? Was it the result of greed for power of Congress leaders? Comment.

10 अंक (10 Marks)

उत्तर :

- भारत में विभाजन को एक 'महान दुर्घटना' माना जाता है। इसे अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति तथा मुस्लिम लीग की सांप्रदायिकता तथा पार्थक्य के आदर्श का एक स्वाभाविक चरण माना जाता है। अंग्रेजों एवं लीग की नीतियों ने एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्य किया तथा भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस को विभाजन स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया।
- वर्ष 1875 के बाद से ही अंग्रेजों ने अपनी नीतियों के तहत मुस्लिमों का पक्ष लेना शुरू कर दिया था और इसी कड़ी में आगे बढ़ते हुए अंग्रेजों ने वर्ष 1905 में बंगाल विभाजन कर दिया जिससे कट्टर मुस्लिम, अंग्रेजों के समर्थक हो गए और अंग्रेजों के समर्थन से वर्ष 1906 में मुस्लिम लीग नामक कट्टर सांप्रदायिक संस्था का गठन किया मुस्लिम लीग वस्तुतः अलीगढ़ के प्रधानाचार्य आर्च बोल्टड तथा वायसराय लार्ड मिंटो के निजी सचिव डनलप स्मिथ की उपज थी। वर्ष 1908 में मुस्लिम लीग ने अपने अमृतसर अधिवेशन में मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन

मंडल की। यह मांग वर्ष 1909 के मार्ले मिंटो सुधार के द्वारा स्वीकार कर ली गई थी। इंग्लैंड के नेता सर विंस्टन चर्चिल से मोहम्मद अली जिन्ना के पत्र व्यवहार होते थे और चर्चिल के भारत के बारे में सदैव कटु विचार थे। चर्चिल ने जो भूमिका इंग्लैंड से अपनाई, वही भूमिका मुस्लिम लीग के प्रति भारत में लॉर्ड लिनलिथगो (1936-1943) तथा लॉर्ड वेवेल (1943-1946) ने अपनाई। लॉर्ड लिनलिथगो ने जिन्ना के द्विराष्ट्रवाद के विचार का समर्थन किया तथा कहा कि जिन्ना के विचार तत्कालीन राजनीति में को संतुलित कर सकेंगे। अतः उपरोक्त तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर अंग्रेजों तथा मुस्लिम लीग के पाकिस्तान के निर्माण में गहरे संबंधों को दर्शाया जा सकता है।

- मुस्लिमों के लिये अलग देश की मांग सर्वप्रथम मोहम्मद इकबाल ने वर्ष 1930 में उठाई थी इसके बाद वर्ष 1933 में चौधरी रहमत अली द्वारा इसे पाकिस्तान नाम दिया गया तथा “अब या फिर कभी नहीं” नामक पंफलेट वितरित किये गए। 1937 में भारत वापसी के बाद चुनावों में मुस्लिम लीग को अपेक्षित सफलता मिलने के बाद जिन्ना द्वारा अलग पाकिस्तान बनाए जाने को लेकर तीव्र प्रतिक्रिया शुरू हुई और इस्लाम को खतरे में बताकर मुस्लिमों को एक ही दल के नीचे लाने का प्रयास किया। वर्ष 1940 में मुस्लिम लीग द्वारा मुस्लिमों के लिये अलग पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया गया, फिर वर्ष 1946 में प्रत्यक्ष कार्यवाही के नाम पर सांप्रदायिक दंगे प्रारंभ हुए और इसकी परिणति पाकिस्तान के रूप में हुई।
- वर्ष 1946 तक भारत के विभाजन के संदर्भ में कुछ स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता था, लेकिन वर्ष 1947 के शुरू से ही कॉन्ग्रेस ने विभाजन को रोकने के लिये किये जा रहे अपने प्रयत्नों को कम कर दिया और अंत में भारत के विभाजन को स्वीकार कर पाकिस्तान के निर्माण को वास्तविकता प्रदान कर दी कॉन्ग्रेस द्वारा प्रयत्नों को रोकने के पीछे निम्नलिखित कारण थे-
 - 16 अगस्त, 1946 तक जिन्ना ने प्रत्यक्ष कार्यवाही का आह्वान किया और लड़कर लेंगे पाकिस्तान का नारा दिया, जिसने उग्र-सांप्रदायिकता के रूप में दंगों की व्यापकशृंखला को जन्म दे दिया। वस्तुतः कॉन्ग्रेस को तात्कालिक स्थितियों में दो बुराइयों में से एक को चुनना था विभाजन अथवा युद्ध। कॉन्ग्रेस ने विभाजन को कम बुराई वाला समझा और उसे स्वीकार किया।
 - लीग के नेता कार्य संचालन में बाधा उत्पन्न करते थे तथा साथ ही अंग्रेजों के असहयोगात्मक रवैये के कारण अंतरिम सरकार सांप्रदायिक दंगों को रोकने में असफल रही। अतः विभाजन ही व्यावहारिक समाधान बचा था।
 - रियासतों के शासक स्वतंत्र होना चाहते थे, जैसा कि हैदराबाद एवं जूनागढ़ के शासकों के रवैये से देखा जा सकता था। अतः भारत की एकता को बचाए रखने के लिये स्वाभाविक था कि देश विभाजित हो, स्वतंत्रता की शीघ्र प्राप्ति हो एवं रियासतों का सम्मिलन यथाशीघ्र भारत में किया जाए। इस संदर्भ में सरदार वल्लभभाई पटेल का कहना था कि यदि हमने विभाजन को स्वीकार नहीं किया होता तो भारत टुकड़ों में बँट जाता। साथ ही, भारत में सैन्य शासन भी स्थापित होने का खतरा था।
 - वर्ष 1945 के पश्चात् ब्रिटेन ने अनुभव किया कि सोवियत रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिये उसे एक सहयोगी की आवश्यकता है, जो कि पाकिस्तान के रूप में एशिया में रूसी प्रभाव को रोक सके क्योंकि नेहरू एवं अन्य भारतीय नेता समाजवाद के प्रति नर्म रवैया रखते थे वहीं दूसरी ओर पूंजीवाद के विरोधी भी थे। अतः विभाजन को रोकने एवं दंगों पर काबू पाने में ब्रिटिश शासन तंत्र ने शिथिलता का प्रदर्शन किया।
 - इन स्थितियों में कॉन्ग्रेस ने विभाजन को स्वीकार किया था और देश को सांप्रदायिक दंगों एवं गृहयुद्ध से बचाया था, हालाँकि विभाजन को स्वीकार करना एक कठोर निर्णय था।
- हालाँकि, कुछ भारतीय लेखक विभाजन के लिये कुछ सीमा तक कॉन्ग्रेस के नेताओं को भी दोषी ठहराते हैं। उनका तर्क है कि यदि ये नेता पर्याप्त सूझ-बूझ तथा हिम्मत दिखाते तो मातृभूमि का बँटवारा रुक सकता था। कुछ विद्वानों का मानना है कि नेहरू और पटेल ने विभाजन को इसलिये स्वीकार किया क्योंकि सत्ता का इंतजार उनके लिये असह्य हो रहा था, अतः उन्होंने गांधी की उपेक्षा करते हुए विभाजन को स्वीकार कर लिया।
- अबुल कलाम आज़ाद जैसे नेता विभाजन के पक्ष में नहीं थे एवं इस संदर्भ में उनका विचार है कि कॉन्ग्रेस और लीग ने बँटवारा स्वीकार किया था, न कि हिंदुस्तान की जनता ने। मौलाना आज़ाद ने वर्ष 1959 में प्रकाशित अपनी पुस्तक इंडिया विन्स फ्रीडम (India wins freedom) में यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का विभाजन अनिवार्य नहीं था और जवाहरलाल नेहरू तथा पटेल जैसे नेताओं ने अपनी इच्छा से ही विभाजन के मार्ग को अपनाया, क्योंकि महात्मा गांधी तो अंतिम दिनों तक इसके विरुद्ध थे, उन्होंने बँटवारे के कुछ दिन पूर्व ही यह बयान दिया था “भारत का विभाजन मेरे शव पर होगा। जब तक मैं जिंदा हूँ, भारत के दो टुकड़े नहीं होने दूंगा। यथासंभव कॉन्ग्रेस को भी भारत का बँटवारा स्वीकार नहीं करने दूंगा।” दुर्भाग्यवश नेहरू और पटेल ने माउंटबेटन के प्रभाव में आकर उसकी विभाजन संबंधी योजना को स्वीकार कर लिया और फिर उन्होंने गांधी तथा कॉन्ग्रेस दल को विभाजन के पक्ष में कर और इस प्रकार वे ब्रिटिश ‘फूट डालो एवं राज करो’ की नीति के शिकार हुए। अगर वे अंत तक विभाजन को स्वीकार नहीं करते तो शायद विभाजन नहीं होता।



- इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों का मानना है कि जुलाई 1946 से मार्च 1947 के बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुईं, जिनके परिणामस्वरूप भारत का विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। इस समय पटेल और नेहरू के समक्ष भारत के विभाजन को स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था।
- यह ठीक है कि सर्वप्रथम नेहरू और पटेल ने ही विभाजन की योजना को स्वीकार किया था। किंतु नेहरू और पटेल भी भारत के अन्य राष्ट्रीय नेताओं की भाँति अखंड भारत के प्रबल समर्थक थे। इसके अतिरिक्त, वे दूसरे व्यक्तियों की तुलना में देश की संपूर्ण स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे। पटेल तथा नेहरू ने माउंटबेटन की योजना को इसलिये स्वीकार किया कि मुस्लिम लीग ने संपूर्ण भारत में सांप्रदायिक दंगे भड़का दिये थे, जिसमें हजारों लोग मर रहे थे। मुस्लिम लीग विभाजित भारत के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर समझौता करने के लिये तैयार नहीं थी। यह निर्णय ऐसी स्थिति में किया गया निर्णय था, जबकि भारतीय समस्या के हल का अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था।

11. भारत में तुर्की शासन की स्थापना ने सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। इसका सबसे प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण रूप वास्तुकला में परिलक्षित होता है। समन्वय पर आधारित इस नवीन शैली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

The establishment of Turkish rule in India brought about significant changes in every social, political and cultural sphere. Its most influential and important form is reflected in the architecture. Mention the salient features of this new style based on coordination.

15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

- दिल्ली सल्तनत के तीन शताब्दियों का इतिहास अपने उत्थान से पतन तक विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से गुजरा। इल्बारियों द्वारा सल्तनत का सुदृढ़ीकरण, खिलजी एवं तुगलक द्वारा साम्राज्य विस्तार तथा तुगलकों के काल से ही विघटन की प्रक्रिया आरंभ होना, अनेक क्षेत्रीय राज्यों का उदय तथा सैयद व लोदियों के काल तक सल्तनत का पतन पूरा हो जाना इसी प्रक्रिया का अंग है।
- तुर्कों के आगमन के फलस्वरूप वास्तुकला की जो शैली विकसित हुई उसे कुछ विद्वानों ने 'इण्डो-सार्सेनिक' शैली कहा। फर्ग्यूसन ने इसे पठान शैली कहा। सर जॉन मार्शल, ईश्वरी प्रसाद जैसे विद्वानों ने स्थापत्य कला की इस शैली को इंडो-इस्लामिक शैली अथवा हिंद-इस्लामी शैली कहना उचित समझा। वस्तुतः दिल्ली सल्तनत की वास्तुकला भारतीय एवं इस्लामी पद्धति के समन्वय से विकसित हुई है। भारतीय पद्धति त्राबियत शैली (क्षैतिज/शहतीरी शिल्प) एवं इस्लामी पद्धति अरकुएट (मेहराब, धरनी) शैली पर आधारित थी।
- सल्तनत कालीन स्थापत्य कला की विशेषताएँ—
 - सल्तनत काल में स्थापत्य कला के अंतर्गत हुए निर्माण कार्यों में भारतीय (लिंटल व शहतीर) शैली और ईरानी (मेहराब) शैली के मिश्रण का संकेत मिलता है।
 - सल्तनत काल के निर्माण कार्य जैसे- किला, मकबरा, मस्जिद, महल एवं मीनारों में नुकीले मेहराबों-गुंबदों तथा सँकरी एवं ऊँची मीनारों का प्रयोग किया गया है।
 - इस काल में मंदिरों को तोड़कर उनके मलबे पर बनी मस्जिद में एक नए ढंग से पूजा घर का निर्माण किया गया। उदाहरण के लिये, दिल्ली में कुतुबमीनार के पास कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद का निर्माण कई हिंदू और जैन मंदिरों को नष्ट करने से प्राप्त सामग्री का उपयोग करके किया गया था।
 - सल्तनत काल में सुल्तानों, अमीरों एवं सूफी संतों के स्मरण में मकबरों के निर्माण की परंपरा की शुरुआत हुई।
 - इस काल में ही इमारतों की मजबूती हेतु पत्थर, कंकरीट एवं अच्छे किस्म के चूने का प्रयोग किया गया।
 - सल्तनत काल में इमारतों में पहली बार वैज्ञानिक ढंग से मेहराब एवं गुंबद का प्रयोग किया गया। यह कला भारतीयों ने अरबों से सीखी। तुर्क सुल्तानों ने गुंबद और मेहराब के निर्माण में शिला एवं शहतीर दोनों प्रणालियों का उपयोग किया। इससे निर्माण हेतु स्तंभों की आवश्यकता घटने से विशाल सभाओं का निर्माण संभव हुआ और इमारतों एवं संरचनाओं की विशालता, व्यापकता और चौड़ाई में वृद्धि हुई। कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद के प्रवेश द्वार के रूप में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा पहले वास्तविक गुंबद का उदाहरण प्रस्तुत करता है तथा बलबन का मकबरा पहले वास्तविक मेहराब का उदाहरण है।
 - सल्तनत काल में इमारतों की साज-सज्जा में जीवित वस्तुओं का चित्रण निषिद्ध होने के कारण उन्हें सजाने में अनेक प्रकार की फूल-पत्तियाँ, ज्यामितीय एवं कुरान की आयतें उकेरी जाती थीं। कालांतर में तुर्क सुल्तानों द्वारा हिंदू साज-सज्जा की वस्तुओं जैसे- कमलबेल के नमूने, स्वास्तिक, घंटियों के नमूने, कलश आदि का भी प्रयोग किया जाने लगा। अलंकरण की संयुक्त विधि को सल्तनत काल में 'अरबस्क विधि' कहा गया।



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

16

- ▶ तुगलक वास्तुकला में नवीन विशेषताओं की शुरुआत हुई जैसे कि ढलान वाली दीवारें या त्रिर्यक दीवारें, बहुमंजिला मेहराब, नुकीले गुंबद का प्रारंभ, मकबरे के निर्माण की अष्टकोणीय योजना। तुगलकाबाद, जहाँपनाह नगर, गयासुद्दीन का मकबरा में इन वास्तुकला के उदाहरण देखे जा सकते हैं।
- ▶ लोदी काल में चारबाग शैली का विकास हुआ, जिसमें एक वर्गाकार खंड को 4 समीपवर्ती समान उद्यानों में विभाजित किया जाता था। सिकंदर लोदी द्वारा आगरा में जामा मस्जिद का निर्माण चारबाग शैली का प्रथम उदाहरण माना जाता है।
- ▶ इमारतों में स्वच्छ हवा एवं पर्याप्त प्रकाश की उपलब्धता बनाए रखने के लिये जालीनुमा संरचना के निर्माण पर बल दिया।
- ▶ फोरशॉर्टनिंग तकनीक का प्रयोग, जैसे कि इमारतों में शिलालेख वास्तव में जितना दूर है उससे अधिक करीब दिखाई देते हैं।
- ▶ पित्रादुरा और मोजेक डिजाइन: कटे हुए, सज्जित एवं अत्यधिक पॉलिश किये गए रत्नों और पत्थरों का उपयोग करना।
- ▶ कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद, अढाई दिन का झोंपड़ा, कुतुबमीनार, अलाई दरवाजा, हौज खास तथा तुगलकाबाद का किला इस काल के प्रमुख इमारतों में शामिल हैं।
- इस प्रकार, तुर्की शासन की स्थापना ने भारत में अत्यंत अलंकृत और विकसित कला एवं स्थापत्य का विकास किया। इस शासन के अंतर्गत भारत में सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ ही कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष पहलुओं में हिंदू और इस्लामी परंपराओं का समन्वय स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इससे न सिर्फ भारत के विभिन्न कला एवं स्थापत्य क्षेत्रों में एकरूपता आई बल्कि साथ ही उड़ीसा, बंगाल, राजपूताना जैसे क्षेत्रों में क्षेत्रगत भिन्नता भी विकसित हुई।

12. कृषि व्यवस्था में हुए नवीन परिवर्तनों ने किस प्रकार बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय का मार्ग प्रशस्त किया? क्या यह परिवर्तन इन धर्मों के उदय का एकमात्र कारण था? टिप्पणी कीजिये।

How did the new changes in the agricultural system paved the way for the rise of Buddhism and Jainism? Was this change the only reason for the rise of these religions? Comment. 15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

पाँचवीं-छठी शताब्दी ई०पू० में मध्य गंगा घाटी में जहाँ एक ओर साम्राज्यवाद का उदय हो रहा था और विशाल साम्राज्यों का गठन हो रहा था वहीं दूसरी ओर अनेक धार्मिक संप्रदायों का भी उदय हो रहा था। लौह आधारित तकनीक के प्रयोग एवं द्वितीय नगरीकरण के आगमन ने भारत में बौद्धिक-सांस्कृतिक आंदोलन के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दिया और इसी पृष्ठभूमि ने बौद्ध और जैन धर्म की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

- छठी शताब्दी ईसा पूर्व में, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधि के केंद्र को हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में स्थानांतरित कर दिया गया, जहाँ प्रचुर मात्रा में वर्षा के कारण भूमि अधिक उपजाऊ थी।
- जैन और बौद्ध दोनों धर्मों (संप्रदायों) के उदय का यथार्थ कारण पूर्वोत्तर भारत में नवीन कृषिमूलक अर्थव्यवस्था का विस्तार था। लोहे के आविष्कार के बाद बड़ी संख्या में लोहे के औजारों का इस्तेमाल होने लगा था जिससे जंगलों की कटाई, कृषि और बड़ी-बड़ी बस्तियों के बसने में आसानी हुई। तीव्र जनसंख्या वृद्धि ने कृषकों को और अधिक उत्पादन पर बल दिया लेकिन तत्कालीन धर्म कृषि के विस्तारीकरण में बाधा उत्पन्न कर रहा था।
- लोहे के फाल वाले हलों पर आधारित कृषिमूलक अर्थव्यवस्था में बैलों का होना अनिवार्य था। किंतु पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म पर आधारित यज्ञों के कारण बैल व अन्य पशु अंधाधुंध मारे जा रहे थे। इससे पशुपालन और कृषि की प्रगति बाधित हो रही थी। अब यह आवश्यक हो गया था कि नवीन कृषिमूलक अर्थव्यवस्था की प्रगति के लिये पशु वध रोका जाए। जैन और बौद्ध दोनों धर्म (संप्रदाय) नई कृषिमूलक अर्थव्यवस्था के लिये उपयोगी थे, क्योंकि ये दोनों पशुबलि के विरुद्ध थे।
- पशुबलि विशेषकर बैलों की बलि से कृषि को अत्यधिक नुकसान पहुँचती थी और वैदिक धर्म के यज्ञों में अंधाधुंध पशुबलि दी जा रही थी। इसलिये नई कृषिमूलक अर्थव्यवस्था, जो लोगों को संपन्न बना रही थी, के विकास हेतु ये दोनों संप्रदाय सर्वाधिक उपयुक्त थे।
- लोगों ने कृषि उद्देश्यों के लिये अधिक-से-अधिक लोहे के औजारों जैसे हल के फाल का उपयोग करना शुरू कर दिया जिससे खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हुई। अधिशेष उत्पादन ने शिल्प एवं व्यापार को प्रोत्साहन दिया।
- कृषि व्यवस्था में परिवर्तन ने आर्थिक क्रियाकलाप में वृद्धि कर दी। व्यापार वाणिज्य की प्रगति, सिक्कों का प्रचलन, नए शिल्पों का उदय, सूद कर्ज की प्रथा, नगरों के उदय को प्राचीन रूढ़िवादी धर्म द्वारा निंदा की दृष्टि से देखा गया। अतः नवीन वैश्य वर्ग ने वैदिक धर्म एवं पुरोहितों का विरोध किया एवं नए धर्मों को अपना समर्थन दिया।

- मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार, आर्थिक परिवर्तन ही सामाजिक-धार्मिक, राजनीतिक परिवर्तन का वाहक होता है। इस व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन धर्मों के उदय में नवीन कृषि व्यवस्था का मौलिक योगदान था।

किंतु, ऐसा कहना पूर्णतः सही नहीं है क्योंकि उस समय समाज में कुछ अन्य परिस्थितियाँ भी थीं जिसने इन धर्मों के उदय और उत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इन परिस्थितियों में से कुछ निम्नलिखित हैं-

- उत्तर वैदिक जटिल वर्ण व्यवस्था ने वैश्य एवं शूद्र वर्ग को सुविधाहीन एवं गरिमाहीन बना दिया था, क्योंकि ब्राह्मणों का धार्मिक और क्षत्रियों का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित था। साथ ही, ये समाज में निम्न श्रेणी के अंतर्गत आते थे। इन वर्गों को वैकल्पिक धर्म की तलाश थी।
- कृषि अधिशेष में वृद्धि ने क्षत्रिय वर्ग को शक्तिशाली तो बना दिया, परंतु वर्ण व्यवस्था में उनका स्थान ब्राह्मण वर्ण के बाद आता था। अतः इस वर्ग ने क्षत्रिय आधारित नवीन धार्मिक आंदोलन की आवश्यकता महसूस की। जैन धर्म की स्थापना करने वाले वर्द्धमान महावीर और बौद्ध धर्म की स्थापना करने वाले गौतम बुद्ध, क्षत्रिय कबीले के थे और दोनों ने ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती दी।
- व्यापार और वाणिज्य में संलग्न लोग शांति पसंद करते हैं क्योंकि युद्ध और झगड़ों से व्यापार को नुकसान पहुँचता है। हम जानते हैं कि हड़प्पा सभ्यता, जो प्रधानतः व्यापार और वाणिज्य में संलग्न थी, शांतिमूलक थी। चूँकि, जैन व बौद्ध दोनों धर्म (संप्रदाय) अहिंसा को सर्वोच्च महत्त्व देते थे, अतः ये वैश्यों को जल्द लुभाने लगे।
- प्राचीन वैदिक धर्म में पुरोहितों ने मध्यस्थ के रूप में यज्ञ एवं बलि को बढ़ावा दिया। नवीन धर्मों ने पुरोहित के रूप में मध्यस्थ की भूमिका को समाप्त करने का विकल्प दिया, क्योंकि बौद्ध धर्म स्वयं ही आत्मदीपो भवः की भावना से प्रेरित था। जैन धर्म भी निर्ग्रंथ एवं कैवल्य की बात करता है।
- पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म भेदभाव पर आधारित था। मानव के साथ जाति आधारित भेदभाव चरम पर था। आडंबरपूर्ण व खर्चीले वैदिक अनुष्ठानों से मानव जीवन जटिल होता जा रहा था। जनमानस शांति का जीवन जीना चाह रहा था। ऐसे में जैन और बौद्ध धर्म, जो शुद्ध सरल व संयमित जीवन के पक्षधर थे और अहिंसा और सदाचार पर जोर दे रहे थे, ने लोगों को आसानी से अपनी ओर आकर्षित किया।
- आडंबरों एवं कर्मकांडों के विरुद्ध उपनिषदों में विरोध का भाव देखा जा सकता है। उपनिषदों में यज्ञ को टूटी नाव से तुलना की गई है, आरण्यकों ने तप के मार्ग पर बल दिया था। इन विचारधाराओं ने वैदिक धर्म के विरुद्ध एक वातावरण तैयार करके नवीन धार्मिक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि बौद्ध और जैन धर्म, वैदिक धर्म के सापेक्ष अधिक लचीले थे जो सर्वसाधारण के लिये आसानी से अनुकरणीय थे। तत्कालीन बदलती सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक और वैचारिक परिस्थितियाँ इनके उदय, उत्थान और लोकप्रिय बनाने में काफी महत्वपूर्ण रहीं। बावजूद इसके कि वर्तमान में वैदिक धर्म की अपेक्षा बौद्ध और जैन धर्म का प्रचार-प्रसार नगण्य है लेकिन भारतीय धर्म, संस्कृति और समाज पर इनका योगदान अविस्मरणीय रहा है।

13. गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण की प्रेरणा कई स्रोतों से बंधी थी, जिसने नवोदित राष्ट्रों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर स्वतंत्र दृष्टिकोण विकसित करने का अवसर दिया। तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में इसके महत्त्व का मूल्यांकन कीजिये। The inspiration for the non-aligned approach came from several sources, which gave budding nations an opportunity to develop independent perspectives on national and international questions. Evaluate its importance in the then international scenario. **15 अंक (15 Marks)**

उत्तर :

- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व दो विरोधी गुटों- सोवियत संघ और अमेरिकी गुट में विभक्त हो चुका था और दूसरी तरफ एशिया एवं अफ्रीका के राष्ट्रों का स्वतंत्र अस्तित्व उभरने लगा था। ये गुट एशिया के इन नवोदित राष्ट्रों पर तरह-तरह के दबाव डाल रहे थे, ताकि वे उसके गुट में शामिल हो जाएँ। किंतु, एशिया के अधिकांश राष्ट्र सोवियत साम्यवाद और अमेरिकी पूंजीवाद दोनों को अस्वीकार करते थे। वे अपने आपको किसी 'वाद' के साथ संबद्ध नहीं करना चाहते थे और उनका विश्वास था कि उनके प्रदेश विश्व की तीसरी शक्ति हो सकते थे तथा जो गुटों के विभाजन को अधिक जटिल संतुलन में परिणत करके अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में सहायक हो सकते थे। उन्होंने गुटों से अलग रहने की नीति अर्थात् गुटनिरपेक्षता का पालन किया।
- गुटनिरपेक्षता की अवधारणा का अभिप्राय गुटों से पृथक् रहकर स्वतंत्र नीति अपनाना व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, आचरण व व्यवहार तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतंत्र निर्णय लेना है। यह सैनिक गठबंधन व गुटबंदी की राजनीति से पृथक् है तथा इसका संबंध आंतरिक व बाह्य क्षेत्र में स्वतंत्र नीति अपनाएने व निर्णय लेने से है। गुटनिरपेक्षता को 'अप्रतिबद्धता', 'असंपृक्तता', 'सकारात्मक तटस्थता', 'गतिशील तटस्थता', 'स्वतंत्र और सक्रिय नीति' और 'शांतिपूर्ण सक्रिय सह-अस्तित्व' भी कहा जाता है।

- इसका उद्देश्य नवोदित राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा करना, पराधीन राष्ट्रों को आजादी दिलाना तथा युद्ध की संभावनाओं को रोकना था। इसके अभ्युदय के पीछे मूल धारणा यह थी कि साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद से मुक्ति पाने वाले देशों को शक्तिशाली गुटों से पृथक् रखकर उनकी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा जाए।
- गुटनिरपेक्ष आंदोलन की औपचारिक शुरुआत वर्ष 1961 में तृतीय विश्व के नेताओं जैसे- यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोसिप ब्रोज टीटो, भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति गमाल अब्देल नासिर, घाना के राष्ट्रपति वाने एनाक्रुमा और इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो द्वारा शुरू किया गया था। गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि पिछले 20-30 वर्षों में घटित युद्धों के लिये उत्तरदायी पूर्ववर्ती एवं पश्चवर्ती गुटों की लामबंदी के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ था। अतः गुटों के प्रति उदासीनता, सामाजिक-आर्थिक अर्थव्यवस्था, देश के वैचारिक-दार्शनिक दृष्टिकोण एवं अन्य श्रोतों ने गुटनिरपेक्षता के लिये प्रेरणा का कार्य किया जिसने नवोदित राष्ट्रों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर स्वतंत्र दृष्टिकोण विकसित करने का अवसर दिया जिनका वर्णन निम्नलिखित है -
 - शीतयुद्ध इसका सबसे बड़ा कारण रहा है। शीतयुद्ध के उस विषैले वातावरण में नवोदित राष्ट्रों ने किसी भी पक्ष का समर्थन न करके पृथक् रहने का निर्णय लिया। भारत इसका अगुआ था।
 - मनोवैज्ञानिक तथा भावात्मक विवशता को इसका एक प्रमुख कारक माना जा सकता है। भावात्मक विवशता यह थी कि “गुटनिरपेक्ष राष्ट्र केवल औपचारिक अर्थ में ही स्वतंत्र न हों, बल्कि शक्तियों के प्रभुत्व या प्रभाव के अवशेषों से एकदम मुक्त प्रतीत भी हों।” ऐसा वे इसमें आस्था व्यक्त कर व विशिष्ट संदर्भों में स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाकर ही अपनी स्वतंत्रता सबसे अच्छी तरह से प्रमाणित कर सकते थे।
 - सैन्य गुटों से पृथक् रहने की प्रवृत्ति ने भी इस नीति को प्रोत्साहन दिया। वर्ष 1945 के बाद दो गुटों की स्थापना हो चुकी थी और 1950 तक अधिकांश एशिया व अफ्रीकी राष्ट्र स्वतंत्र हुए थे। ये देश आर्थिक स्थिति से कमजोर थे जो संभलने के लिये समय चाहते थे। और वे इस चक्रव्यूह में नहीं फँसना चाहते थे। ये सभी अपना स्वतंत्र राजनीतिक व आर्थिक विकास करना चाहते थे। ये किसी भी गुट में फँसकर अपनी स्वतंत्रता समाप्त नहीं करना चाहते थे।
 - अपने पृथक् व विशिष्ट अस्तित्व को कायम रखने की उत्कृष्ट अभिलाषा भी गुटनिरपेक्षता की ओर ले गई। नवोदित राष्ट्रों को लगा कि गुटनिरपेक्षता उनके लिये (विशेषकर दोनों गुटों के वैचारिक संघर्ष के संदर्भ में) अपने पृथक् व विशिष्ट वैचारिक स्वरूप को अक्षुण्ण कायम रखने का साधन थी।
 - स्वतंत्र विदेश नीति संचालित करने की अभिलाषा भी नवोदित एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों के मन में थी। वे एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में विश्व में अपनी पहचान कायम रखना चाहते थे। स्वतंत्र विदेश नीति के कारण आज ये किसी के संकेत पर नाचने के लिये बाध्य नहीं हैं।
 - आर्थिक कारण एक महत्वपूर्ण कारण था। इनके सामने एक स्वतंत्र आर्थिक विकास की समस्या थी। एक गुट में बँध जाने के कारण दूसरे से इन्हें सहायता प्राप्त न होती। इसलिये, इन्होंने एक ऐसा मार्ग चुना जो किसी से भी आर्थिक सहायता प्राप्त करने के मार्ग में बाधक न बने।
 - ये देश किसी गुट में शामिल होकर विश्व में अनावश्यक तनावपूर्ण स्थिति पैदा करने का इच्छुक नहीं था। साथ ही, किसी भी गुट के विचारधारा प्रभाव से ग्रस्त नहीं होना चाहते थे। किसी भी गुट में शामिल होने पर उनकी शासन प्रणाली एवं नीतियों पर उस गुट विशेष के नेतृत्व का दृष्टिकोण हावी हो जाता।
 - भारत के संदर्भ में उपर्युक्त तथ्यों के साथ कुछ अन्य कारक भी थे। यथा- भारत की भौगोलिक सीमाएँ साम्यवादी देशों से जुड़ी थी, अतः पश्चिमी देशों के गुट में शामिल होना अदूरदर्शी कदम होता, दूसरी ओर साम्यवादी गुट में शामिल होने पर भारत को पश्चिमी आर्थिक व तकनीकी सहायता से वंचित होना पड़ता, यह नीति भारत की मिश्रित एवं सामंजस्यवादी संस्कृति के अनुरूप तथा दक्षिणपंथी एवं वामपंथी दलों के विदेश नीति से जुड़े आपसी मतभेदों को समाप्त करने का सर्वमान्य सूत्र था। गुटनिरपेक्षता स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान घोषित आदर्शों एवं मान्यताओं का पोषण करती है। यह गांधी, टैगोर, अरविंद घोष के वैश्विक परिवार की अवधारणा के सर्वाधिक निकट है।
- द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति एवं उपनिवेशवाद से मुक्ति की प्रक्रिया में एशिया और अफ्रीका के कई देशों ने शांति व समृद्धि हासिल करने तथा सार्वभौम सुरक्षा स्थापित करने की दिशा में गुटनिरपेक्ष का चुनाव किया था। गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण के महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसके सदस्य देशों की संख्या 21 राष्ट्रों के वर्ष 1961 में प्रथम सम्मेलन से वर्ष 2012 में 16वें सम्मेलन तक 120 हो गई थी और 17 पर्यवेक्षक राष्ट्र थे, जो तृतीय विश्व के सर्वाधिक बड़े आंदोलन के रूप में इसे स्थापित करता है।



तात्कालीन अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में गुटनिरपेक्षता का महत्त्व

- संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा विशेष रूप से नाटो और वारसाँ संधि पर हस्ताक्षर के बाद दुनिया में ध्रुवीकरण में तीव्र वृद्धि देखी गई थी। गुटनिरपेक्षता ने तृतीय विश्व के देशों के समक्ष अन्य विकल्प को प्रस्तुत किया। साथ ही, विश्व के अन्य देशों को इन दो गुटों में शामिल करने से रोक दिया।
- शीतयुद्ध की विभीषिका को तृतीय विश्वयुद्ध के रूप में परिवर्तित होने से रोकने में गुटनिरपेक्षता ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।
- कांगो, गैबोन एवं अन्य अफ्रीकी व एशियाई देशों में उपनिवेशवाद की समाप्ति में इसने मुख्य भूमिका निभाई थी।
- नस्लभेद एवं रंगभेद की समाप्ति के लिये अफ्रीकी गणराज्य पर दबाव बनाने में इस आंदोलन ने मुख्य भूमिका निभाई।
- फारमोसा विवाद, हिंदचीन विवाद, स्वेज़ नहर विवाद और कोरिया विवाद के समाधान में गुटनिरपेक्ष देशों के नेता के रूप में भारत को सफलता प्राप्त हुई थी।
- वर्ष 1959 में परमाणु परीक्षण पर रोक लगाने के प्रस्ताव पर भारत ने मुख्य भूमिका निभाई थी।
- वैश्विक दक्षिण (ग्लोबल साउथ) की अवधारणा को बल प्रदान किया क्योंकि इसके सदस्यों में अफ्रीका, लैटिन अमेरिका, पूर्वी यूरोप एवं एशिया के कम विकसित और विकासशील देश शामिल थे।
- तीसरी दुनिया में आपसी सहयोग कर आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त करने में भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन का बड़ा महत्त्व है। वास्तव में, गुटनिरपेक्ष देशों ने धीरे-धीरे चहुँमुखी क्षेत्रों में आपसी सहयोग करने का रास्ता अपनाया। नई विश्व अर्थव्यवस्था, नई समाचार व्यवस्था, तेल का उचित दामों पर उपलब्ध होना आदि क्षेत्रों में व्यावहारिक आपसी सहयोग करके उन्होंने गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा आत्मनिर्भरता बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया। इससे विभिन्न क्षेत्रों में उनके विकास के लिये बड़ी शक्तियों पर उनकी निर्भरता घटी और वे आत्मनिर्भरता के पथ पर अग्रसर हुए।
- उपरोक्त वर्णित उपलब्धियों पर विचार किया जाए तो निर्विवाद रूप से गुटनिरपेक्षता ने तात्कालिक समय के वैश्विक मुद्दों के समाधान में मुख्य भूमिका निभाई, लेकिन इसकी अपनी सीमाएँ भी थीं, जैसे-
 - गुटनिरपेक्ष आंदोलन की साख को पहला झटका वर्ष 1979 में लगा जब इसका सम्मेलन हवाना में आयोजित किया गया और क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो ने आंदोलन पर अपना सिक्का जमाते हुए यह दावा किया कि सोवियत संघ, गुटनिरपेक्ष देशों का स्वाभाविक साथी है। परिणामतः वह गुटनिरपेक्ष आंदोलन पूरी तरह विभाजित हो गया।
 - परिस्थितियों के अनुसार गुटनिरपेक्षता को साधन के रूप में प्रयोग नहीं किया गया, बल्कि इसे साध्य मान लिया गया।
 - कोरिया युद्ध में भारत ने पश्चिमी देशों का समर्थन करते हुए उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया। इससे चीन के साथ संबंधों में कटुता उत्पन्न हो गई। वहीं दूसरी ओर, स्वेज़ विवाद में नासिर का पक्ष लेने के कारण भारत के साथ ब्रिटेन के संबंध खराब हो गए।
 - गुटनिरपेक्ष देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। इन देशों को अपने आर्थिक विकास के लिये महाशक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता था। महाशक्तियाँ आर्थिक लालच देकर इन छोटे और कमजोर गुटनिरपेक्ष देशों का शोषण करती रहती थीं।
- गुटनिरपेक्ष आंदोलन उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के पतन के दौरान विकसित हुआ और अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के देशों ने अपनी स्वतंत्र विदेश नीति, शीतयुद्ध की स्थिति और आंतरिक राजनीतिक आवश्यकताओं के दबाव में गुटनिरपेक्षता की राह चुनी। अपनी सीमाओं के बावजूद यह द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत सैद्धांतिक प्रतिबद्धता के साथ जागरूक समूह और अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा व शांति के प्रतीक के रूप में विश्व राजनीति में सक्रिय रहा है। अवसरवादिता ने इसे प्रभावित जरूर किया, किंतु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक व व्यावहारिक स्वरूप में गुटनिरपेक्षता का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है।

14. राष्ट्र संघ के स्वरूप में निहित कमजोरियों ने ही इसकी अक्षमता का निर्धारण कर दिया था, जिसके कारण यह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा। विश्लेषण कीजिये।

Its inefficiency was determined by the inherent weaknesses in the nature of the League of Nations, due to which it failed to achieve its objectives. Analyze.

15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

- प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ की स्थापना का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना में वृद्धि करना, पुनः विश्वयुद्ध की व्यापक विनाशक परिस्थिति से विश्व को बचाना तथा विश्व में शांति की स्थापना करना था। राष्ट्रसंघ की स्थापना को पेरिस शांति सम्मेलन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना में बड़ा योगदान दिया। उन्हीं के प्रयासों से राष्ट्रसंघ की स्थापना 10 जनवरी, 1920 को हुई थी।



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

20

- पेरिस सम्मेलन में जब राष्ट्रसंघ की रूपरेखा तैयार हुई, तब विल्सन की मांग पर ही राष्ट्रसंघ को वर्साय संधि का अभिन्न अंग बनाया गया। वर्साय की संधि की प्रथम छब्बीस धाराएँ राष्ट्रसंघ की रूपरेखा से ही संबंधित हैं। परंतु, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द्र का यह मंच अल्पकाल में ही असफल हो गया। राष्ट्रसंघ की सफलता-असफलता को इन व्यापक महत्त्व के मुद्दों को हल करने की इसकी क्षमता द्वारा परखा जा सकता है। राष्ट्रसंघ की असफलता को द्वितीय विश्वयुद्ध की विनाशक परिस्थिति के रूप में देखा जा सकता है।
- राष्ट्रसंघ अपने आरंभिक समय में उन्नति के चरम शिखर पर रहा इस समय में उसकी प्रतिष्ठा सारे संसार में छाई हुई थी। किंतु, वर्ष 1931 में उसकी अवनति धीरे-धीरे शुरू हुई। अवनति के मुख्य कारण उसकी स्थापना के प्रावधानों में ही छिपे हुए हैं। इसमें से कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं-
 - वर्साय की संधि के तहत राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। वर्साय की संधि का उल्लंघन करना दंडनीय अपराध था। किंतु, राष्ट्रसंघ के आदेशों का उल्लंघन दंडनीय नहीं था। इससे यह सिद्ध होता है कि यह एक कमजोर नींव पर खड़ा किया गया था।
 - राष्ट्रसंघ में संवैधानिक दृष्टि से भी बहुत से दोष थे क्योंकि इसके निर्णय सर्वसम्मति से होते थे। अतः परिषद् किसी भी एक सदस्य का स्वार्थपूर्ण नहीं होता था वह अपना विरोध प्रकट कर निर्णय नहीं होने की स्थिति उत्पन्न करता था।
 - सदस्य राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में राष्ट्रसंघ हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।
 - राष्ट्रसंघ की अपनी कोई सेना नहीं थी वह सेना के लिये अपने सदस्य राष्ट्रों पर निर्भर रहता था। अतः आक्रामक कार्यवाही हेतु राष्ट्रसंघ पराधीन था।
 - किसी भी संगठन की सफलता की प्रमुख शर्त है उसके सिद्धांतों में पूर्ण विश्वास। किंतु, राष्ट्रसंघ के साथ ऐसा नहीं था, वह अपने राष्ट्रों का विश्वास प्राप्त नहीं कर सका। इस कारण उसकी असफलता तय थी।
- राष्ट्रसंघ की सदस्यता लेने वाले राष्ट्रों ने इस बात का वचन लिया कि वे मिल जुलकर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत के आधार पर सदस्य राज्यों की स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखंडता को बनाए रखेंगे, किंतु व्यवहारिक तौर पर इन राष्ट्रों ने ऐसा नहीं किया। वे राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों को स्वयं ही तोड़ते रहे। राष्ट्रसंघ द्वारा आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध की बात इन राष्ट्रों को स्वीकार नहीं होती थी, क्योंकि इससे इनके आर्थिक-व्यापारिक हित प्रभावित होते थे। इस तरह अनेकों सिद्धांतों को सदस्य राष्ट्रों ने स्वार्थवश ताक पर रख दिया। इस कारण राष्ट्रसंघ का पतन होना ही था।
- राष्ट्रसंघ योजना का विचार सर्वप्रथम अमेरिका के राष्ट्रपति के मन में आया था। किंतु राष्ट्रसंघ बनने पर अमेरिका को संसद से स्वीकृति नहीं मिलने पर अमेरिका ही इसका सदस्य नहीं बना। यह स्थिति बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण थी। परिणामस्वरूप, लीग के कार्यों के लिये धन की कमी हुई।
- राष्ट्रसंघ वास्तव में एक प्रतिनिधि संगठन नहीं था। इसकी सदस्यता सीमित थी। यह उन राष्ट्रों का संघ बन गया था जो प्रथम विश्वयुद्ध के विजेता थे। साथ ही, सोवियत संघ को सदस्यता के लिये निमंत्रित नहीं किया गया।
- इसके साथ ही राष्ट्रसंघ की विफलता में राष्ट्रसंघ की अहस्तक्षेप की नीति भी एक प्रमुख कारण थी जिसके अनुसार, राष्ट्रसंघ किसी भी बड़े राष्ट्र के मामले में तटस्थता की नीति अपना लेता था।
- राष्ट्रसंघ को विशेष रूप से फ्रांस और ब्रिटेन की संबद्ध शक्तियों के एक संगठन के रूप में देखा जाने लगा, जो अन्यायपूर्ण शांति संधियों के कार्यान्वयन के लिये स्थापित किया गया था।
- विवादों को सुलझाने के लिये राजदूतों का सम्मेलन एक अस्थायी निकाय के रूप में स्थापित किया गया था। किंतु, लीग के गठन के बाद भी इसका अस्तित्व बना रहा। इससे लीग ऑफ नेशंस की वैधता और प्राधिकार को ठेस पहुँची।
- राष्ट्रसंघ शांति संधियों द्वारा स्थापित सीमाओं के उल्लंघन की जाँच करने में विफल रहा। यह इटली, जर्मनी और जापान द्वारा प्रदर्शित आक्रामकता पर कड़ा रुख अपनाने में भी विफल रहा। उदाहरण के लिये, उसने एबीसीनिया आक्रमण के बाद इटली पर केवल आंशिक व्यापार प्रतिबंध लगाए।
- यह एक अपूर्ण संधि के बचाव करने के लिये स्थापित निकाय था, जो पक्षपात से पीड़ित था और जिसके टूटने की संभावना थी। हस्ताक्षरित शांति संधियों आत्मनिर्णय के सिद्धांत के विरुद्ध थीं। उदाहरण के लिये, लाखों जर्मन शांति संधियों के बाद जर्मनी के बाहर चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड में रहते थे। इसी तरह, कई तुर्क नस्ल के लोग ग्रीस में निवास करते थे।
- तुर्की, इटली, जर्मनी जैसे पराजित राष्ट्रों को संतुष्ट करने में राष्ट्रसंघ असफल रहा।
- इसने केवल जर्मनी का निःशस्त्रीकरण करवाया अन्य प्रमुख शक्तियों का निःशस्त्रीकरण करवाने में असफल रहा।
- उपर्युक्त असफलताओं के बावजूद अपने गठन के पश्चात् राष्ट्रसंघ द्वारा वैश्विक शांति एवं समन्वय के निम्नलिखित कार्य सफलतापूर्वक किये गए-

- राष्ट्रसंघ के निर्माण ने राष्ट्रों को आपसी विवादों को सुलझाने के लिये एक मंच प्रदान किया। जैसे- तुर्की-ब्रिटेन विवाद, ग्रीस-बुल्गारिया विवाद का शांतिपूर्ण समाधान
- मँडेट व्यवस्था संबंधी कार्य (तुर्की, जर्मनी के उपनिवेशों में)
- पोलैंड, रोमानिया, ग्रीस आदि देशों में लोगों के लिये प्रशासनिक कार्य
- अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा एवं जनमत का आदर (स्लाव, बुल्गारियाई, हंगरी मूल)
- शरणार्थियों के पुनर्वास का कार्य।
- वर्ष 1923 में स्वास्थ्य संबंधी संगठन का निर्माण, मलेरिया उन्मूलन आदि।
- दास प्रथा उन्मूलन, बेगार उन्मूलन, महिला एवं बच्चों के तस्करी पर रोक आदि के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किये गए।
- यह बात सत्य है कि राष्ट्रसंघ अपनी स्वरूपगत आंतरिक कमजोरियों, सदस्य राष्ट्रों के स्वार्थता, उग्र राष्ट्रवादिता, अति-विश्वास की भावना आदि के कारण युद्ध के निवारण में तथा शांति की स्थापना के प्रयास में सफल नहीं हो सका। परंतु, अपनी असफलता के बावजूद राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को बढ़ावा देना था और राष्ट्रसंघ अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रथम बड़ा प्रयोग था। राष्ट्रसंघ भले ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों को सुलझाने में अधिक सफल न हो सका, किंतु उसे गैर-राजनीतिक कार्यों में बड़ी सफलता मिली। इसने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द की ऐसी परंपरा का सूत्रपात किया जो अंतर्राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अंग बन गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना में इस प्रयोग से बड़ी सहायता मिली। वाल्टर ने अपने शब्दों में कहा है कि, “संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धांतों, अंगों तथा कार्यप्रणाली अर्थात् प्रत्येक पहलू पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है।”

15. समाज के निम्न वर्गों के उद्धार के लिये ज्योतिबा फुले द्वारा किये गए प्रयासों का परीक्षण कीजिये। इनके द्वारा किये गए प्रयास कहाँ तक सफल रहे। विवेचना कीजिये।

Examine the efforts made by Jyotiba Phule for the upliftment of the lower classes of the society. To what extent were his efforts successful? Discuss.

15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

- जाति, वर्ण, लिंग और परंपरा के आधार पर सामाजिक विभेद की तलख सच्चाई मनुष्य की सभ्यता और उसकी पूरी विकास यात्रा पर सवाल उठाती रही है। ये सवाल मानवीय अस्मिता के लिहाज से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, इसके लिये संघर्ष को जानने-समझने के लिये भी ज़रूरी है। जाति प्रथा, पुरोहितवाद, स्त्री-पुरुष असमानता और अंधविश्वास के साथ समाज में व्याप्त आर्थिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की ज़रूरत भारत में शताब्दियों से रही है। इस लक्ष्य को लेकर आधुनिक युग में सार्थक, सशक्त और काफी हद तक सफल आंदोलन चलाने का श्रेय प्रथमतः ज्योतिराव फुले को ही जाता है।
- ज्योतिराव गोविंदराव फुले (11 अप्रैल, 1827-28 नवंबर, 1890) प्रसिद्ध भारतीय सामाजिक कार्यकर्ता, विचारक, समाज सुधारक और लेखक थे, जिनका जन्म महाराष्ट्र के पुणे में हुआ था। इन्होंने अस्पृश्यता एवं जाति व्यवस्था की कठोरता का विरोध किया, साथ ही समतावादी समाज की स्थापना पर बल दिया। जाति सुधार के अलावा बालिका शिक्षा, विधवा कल्याण, स्त्री शिक्षा पर बल, शिशु बालिका हत्या पर रोक के लिये भी प्रयास किया था। उनके इन सामाजिक सुधार के कार्यों में उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले ने भी अप्रतिम योगदान दिया था।
- तत्कालीन परिस्थितियों का ज्योतिबा फुले ने स्वयं अपनी पुस्तक ‘गुलामगिरी’ की प्रस्तावना में शूद्रों-अतिशूद्रों की खराब स्थिति के बारे में बताया है-
 - “शूद्रों को घूमना हो तो भी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। शूद्रों में से कई लोगों को (जातियों को) रास्ते पर थूकने की भी मनाही थी। इसलिये, उन शूद्रों को ब्राह्मणों की बस्तियों से गुज़रना पड़ा तो अपने साथ थूकने के लिये मिट्टी के किसी एक बर्तन को रखना पड़ता था। उसमें भी एकदम सुबह के समय तो बहुत भारी दिक्कतें खड़ी हो जाती थी, क्योंकि उस समय सभी चीजों की छाया काफी लंबी होती है। ऐसे समय शूद्र को ब्राह्मण पर अपनी छाया न पड़े, इस डर से कपित होकर वही बैठ जाना पड़ता था।”
- इन्होंने समाज के निम्न वर्गों के उद्धार के लिये विशेष प्रयास किया। इन सुधार कार्यक्रमों को निम्नलिखित बिंदुओं में देखा जा सकता है-
 - अगस्त 1848 में महाराष्ट्र के पुणे में भारत में लड़कियों के लिये पहला स्वदेशी स्कूल खोला।
 - फुले ने महार और मांग जैसी तत्कालीन अछूत जातियों के बच्चों के लिये भी स्कूल शुरू किये।
 - 1863 ई. में, उन्होंने गर्भवती ब्राह्मण विधवाओं के लिये एक सुरक्षित और सुरक्षित स्थान पर जन्म देने के लिये एक घर खोला।



- उन्होंने बालिका शिशु हत्या से बचने के लिये एक अनाथालय खोला।
- 1868 ई. में, ज्योतिराव ने सभी मनुष्यों के प्रति अपने गले लगाने वाले रवैये को प्रदर्शित करने के लिये अपने घर के बाहर एक सामान्य स्नान टैंक बनाने का फैसला किया और उनकी जाति की परवाह किये बिना सभी के साथ भोजन करने की कामना की।
- 1873 में, फुले ने जाति व्यवस्था की निंदा करने और तर्कसंगत सोच फैलाने के लिये, दलित वर्गों के अधिकारों के लिये सत्यशोधक समाज, या सत्य के साधकों के समाज की स्थापना की।
- सत्य शोधक समाज के प्रमुख उद्देश्य थे— शूद्रों-अतिशूद्रों को पुजारी, पुरोहित, सूदखोर आदि की सामाजिक-सांस्कृतिक दासता से मुक्ति दिलाना, धार्मिक-सांस्कृतिक कार्यों में पुरोहितों की अनिवार्यता को खत्म करना, शूद्रों-अतिशूद्रों को शिक्षा के लिये प्रोत्साहित करना, ताकि वे उन धर्मग्रंथों को स्वयं पढ़-समझ सकें, जिन्हें उनके शोषण के लिये ही रचा गया है, सामूहिक हितों की प्राप्ति के लिये उनमें एकजुटता का भाव पैदा करना, धार्मिक एवं जाति-आधारित उत्पीड़न से मुक्ति दिलाना, पढ़े-लिखे शूद्रातिशूद्र युवाओं के लिये प्रशासनिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना आदि। कुल मिलाकर ये सामाजिक परिवर्तन के घोषणापत्र को लागू करने का कार्यक्रम था।
- तृतीया रत्न (1855), गुलामगिरी (1873), शेतकारयाचा आसूदया कल्टीवेटर्स व्हिपकार्ड (1881), मंगलाष्टकश सर्व पूजा-विधि (1887) आदि इनके द्वारा लिखित पुस्तकें हैं जिन्होंने निम्न वर्गों के जागरूकता में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मूल्यांकन-

- ज्योतिबा फुले के द्वारा शिक्षा एवं स्वास्थ्य में किये गए कार्यों ने समाज के कमजोर वर्गों को सशक्त किया। बालिका, महिला, विधवा उद्धार के कार्यों द्वारा पश्चिमी भारत में इनकी स्थिति में सुधार हुआ।
 - महार आंदोलन एवं भीमराव आंबेडकर जैसे परवर्ती सुधारकों के लिये सत्यशोधक समाज ने एक बड़ा सामाजिक वर्ग तैयार कर दिया, जो जन लामबंदी के लिये सदैव तैयार थे।
 - ज्योतिबा फुले ने जाति प्रथा के अंदर स्थितियों में फेरबदल न करते हुए इस सामाजिक संगठन के आधार को ही चुनौती दे डाली। उनका कहना था कि ब्राह्मण उन विदेशी आर्यों की संतान हैं, जिन्होंने इस देश के मूल निवासियों को गुलाम बनाया। इस कारण आज आवश्यकता इस बात की है कि एक ऐसी सामाजिक क्रांति लाई जाए जिसमें गैर-ब्राह्मण किसान जाति एवं दलित समूहों को एकता के सूत्र में बाँधा जा सके एवं ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दी जाए।
 - फुले ने किसान कुनबी जातियों की लामबंदी करने के लिये उन्हें क्षत्रिय माना एवं मराठों के साथ सह-अस्तित्व का ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया, हालाँकि उनके इस प्रयास से दलित लामबंदी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।
 - फुले द्वारा दलितों को मूलवाशी मानने के दावों के कारण अब दलित महारों और मांगों को सैन्य नस्लें अर्थात् क्षत्रिय वंशी माना जाना बंद हो गया। परिणामस्वरूप, 1892 ई. के बाद इन जातियों को सैन्य सेवा से बाहर रखा जाने लगा।
 - फुले के जातीय आंदोलन ने 'बहुजन समाज' और 'सेठजी-भटजी (बनिया एवं ब्राह्मण) के बीच सामाजिक विभाजन को बढ़ावा देकर वर्गीय विभाजन का आधार तैयार किया।
 - बहुजन समाज की बेहदरी के लिये सत्यशोधक समाज ब्रिटिश सरकार में अपनी आस्था रखने लगे एवं गैर-ब्राह्मण एसोसिएशन नाम से अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान राजनीतिक दल का गठन भी किया।
 - इस प्रकार, हम देखते हैं कि कुछ सीमाओं के बावजूद ज्योतिबा फुले के सामाजिक सुधार के कार्यों ने निम्न वर्गों के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने समाज के सर्वांगीण विकास की कल्पना करते हुए उसे साकार रूप देने का भी प्रयास किया। उन्होंने ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें शोषण न हो, अन्याय न हो, सभी को विकास के अवसर उपलब्ध हों। इसलिये, भारत में समाज सुधार आंदोलन के एक बड़े प्रणेता के तौर पर आज भी ज्योतिबा फुले का आदर है क्योंकि उनके संघर्ष के रास्ते और मूल्यों के बूते ही देश में सामाजिक न्याय का आंदोलन आज भी आगे बढ़ रहा है और अपने आगे की हर तरह की चुनौतियों से निपट रहा है और सामाजिक न्याय के संदर्भ में आज भी वह उतना ही जरूरी और प्रासंगिक भी है।
16. लॉर्ड वेल्लेज़ली की नीतियों ने न केवल अंग्रेजों के अधीन प्रदेशों का विस्तार किया अपितु भारतीय राज्यों को भी कंपनी पर निर्भर बना दिया। उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिये जिन्होंने वेल्लेज़ली को विस्तार नीति अपनाने के लिये प्रेरित किया।

The policies of Lord Wellesley not only expanded the territories under the British but also made the Indian states dependent on the Company. Mention the circumstances which prompted Wellesley to adopt the extension policy. **15 अंक (15 Marks)**



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

☎ 9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

23

उत्तर :

- लॉर्ड वेलेज़ली के आगमन के पूर्व भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार हेतु कोई स्पष्ट नीति नहीं थी। भारत में ब्रिटिश शासन का बड़े पैमाने पर विस्तार लॉर्ड वेलेज़ली (1798) के गवर्नर-जनरल बनने के बाद पूरा हुआ, क्योंकि जॉन शोर एवं कार्नवालिस की नीतियों में उतनी आक्रामकता नहीं थी, जिससे कि साम्राज्य का विस्तार हो सके और न ही सहायक संधि जैसी कोई मितव्ययी योजना ही थी।
 - वेलेज़ली का उद्देश्य कंपनी को भारत की सबसे बड़ी शक्ति बनाना, ब्रिटिश अधीन प्रदेशों का विस्तार करना तथा भारत के सभी राज्यों को कंपनी पर निर्भर होने की स्थिति में लाना था। भारतीय राज्यों को अंग्रेज़ी राजनीतिक परिधि में लाने के लिये उसने सहायक संधि के साथ ही प्रत्यक्ष युद्ध का सहारा लिया। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उसने निम्नलिखित तरीकों का प्रयोग किया था—
 - **सहायक संधि की प्रणाली**— इस प्रणाली द्वारा देशी राज्यों के खर्च पर वेलेज़ली ने ब्रिटिश कंपनी के लिये मितव्ययी सैन्य व्यवस्था की निरंतर आपूर्ति को सुनिश्चित किया, ताकि उसके साम्राज्य विस्तार में बाधा न पहुँच सके। इस प्रणाली ने अधीनस्थ शासकों की शृंखला भी तैयार कर दी, जो कि अंग्रेज़ों के सहायक के तौर पर जाने गए। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य थे— हैदराबाद, मैसूर (1799), तंजौर (1799), अवध के नवाब (1801), पेशवा (1801), बरार (1803), सिंधिया (1804), जोधपुर, जयपुर, बूंदी और भरतपुर के राजा। सहायक संधि प्रणाली साम्राज्य निर्माण के कार्य में एक भेदिये शत्रु की भूमिका निभाने लगी। सहायक संधि को स्वीकारने वाले भारतीय राज्य निःशस्त्र हो गए क्योंकि अब उन्हें कंपनी का संरक्षण प्राप्त था। सर टॉमस मुनरो के शब्दों में, 'राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चरित्र अथवा वह सब जो किसी देश को प्रतिष्ठित बनाते हैं, बेचकर सुरक्षा मोल ले ली।'
 - युद्ध को प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के रूप में आंग्ल मैसूर युद्ध के बाद मैसूर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन आ गया, तो वहीं आंग्ल मराठा युद्ध के द्वारा औरंगाबाद, ग्वालियर, कटक, बालासोर, जयपुर, जोधपुर, गोहाद, अहमदनगर, भरूच, अजंता, अलीगढ़, मथुरा तक का प्रदेश ब्रिटिश कंपनी के नियंत्रण में आ गए।
 - अधीनस्थ शासकों की पूर्ववत् अवधारणा का विस्तार किया गया।
 - वेलेज़ली के भारत आगमन के समय यूरोप में नेपोलियन की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा ने ब्रिटेन के समक्ष खतरा उपस्थित कर दिया था एवं उसकी निगाहें ब्रिटेन के भारतीय उपनिवेश पर भी थी। अतः ब्रिटिश सत्ता को मजबूत करने के लिये वेलेज़ली ने शांति एवं निष्पक्षता की नीति का त्याग करके युद्ध की नीति का अनुसरण किया। इसके साथ ही भारतीय परिस्थितियों ने भी वेलेज़ली को विस्तार नीति अपनाने के लिये प्रेरित किया—
 - मैसूर मराठा एवं अन्य देशी राजाओं की पतनोन्मुख स्थिति ने वेलेज़ली को ब्रिटिश विस्तार के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध करवा दीं।
 - भारत से फ्राँसीसी प्रभाव को समाप्त करना और भारत में फ्राँसीसी क्षेत्रीय विस्तार की संभावना को सीमित करना।
 - वेलेज़ली भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना करना चाहता था ताकि वे भारत में एकमात्र संप्रभु शक्ति बन सकें।
 - टीपू सुल्तान की तुर्की, फ्राँस एवं अन्य देशों के साथ बढ़ती निकटता ने ब्रिटिश कंपनी के लिये असहज स्थिति पैदा कर दी थी।
 - देशी शासकों के मध्य संभावित संधि वार्ता (जैसे— मराठा, मैसूर एवं हैदराबाद) ने अंग्रेज़ों के समक्ष तत्कालीन संकट खड़ा कर दिया था।
 - मुगल शासन की कमज़ोर होती स्थिति।
 - लॉर्ड वेलेज़ली की गिनती भारत में ब्रिटिश साम्राज्य निर्माताओं की श्रेणी में की जाती है। निःसन्देह उसे अपने उद्देश्यों में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत सहायक संधि तथा कूटनीतिक युद्धों के माध्यम से उसने न सिर्फ अंग्रेज़ी साम्राज्य का विस्तार किया बल्कि उसने भारतीय शत्रुओं तथा फ्राँसीसियों से कंपनी की तत्कालीन परिस्थितियों में रक्षा भी की और भविष्य के लिये तैयार भी किया। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्लाइव ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की, वारेन हेस्टिंग्स ने इसे सुव्यवस्थित व सुसंगठित किया तथा वेलेज़ली ने उसका विस्तार कर एक अंग्रेज़ी राज्य को साम्राज्य में बदल दिया।
17. बक्सर के युद्ध के पश्चात् चरणबद्ध तरीके से आर्थिक दोहन ही कंपनी का मुख्य उद्देश्य था। इसके लिये आवश्यक था कि भारतीय अर्थव्यवस्था के परंपरागत स्वरूप को तोड़कर उसे औपनिवेशिक स्वरूप प्रदान किया जाए। इस दिशा में अंग्रेज़ों द्वारा किये गए प्रयासों का उल्लेख कीजिये।

After the battle of Buxar, economic exploitation in a phased manner was the main objective of the company. For this it was necessary to break the traditional form of the Indian economy and give it a colonial form. Mention the efforts made by the British in this direction. 15 अंक (15 Marks)



उत्तर :

अंग्रेजों द्वारा अपनाई जाने वाली आर्थिक नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था को एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तेजी से बदल दिया, जिसकी प्रकृति और संरचना ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की ज़रूरतों द्वारा निर्धारित की गई थी। इस संबंध में भारत की ब्रिटिश विजय पिछली सभी विदेशी विजयों से भिन्न थी।

अंग्रेजों ने प्लासी (1757 ई.) और बक्सर (1764 ई.) के युद्धों के बाद बंगाल की समृद्धि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फलतः भारतीय अर्थव्यवस्था अधिशेष तथा आत्मनिर्भरतामूलक अर्थव्यवस्था से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई। अंग्रेजों की आर्थिक-प्रशासनिक नीतियों को जॉन सुलिवन की पंक्ति द्वारा समझा जा सकता है- “हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है जो गंगा के किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु ले लेती है, फिर टेम्स के किनारों पर निचोड़ देती है।”

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरण इंग्लैंड के आर्थिक ढाँचे से प्रभावित होते रहे, इसलिये प्रत्येक चरण में गुणात्मक परिवर्तन होते रहे। अंग्रेजों द्वारा किये गए प्रयासों के आधार पर भारत में उपनिवेशवाद को तीन प्रमुख चरणों में विभाजित किया गया है-

उपनिवेशवाद का प्रथम चरण : वाणिज्यिक चरण (1757-1813 ई.)

प्रथम चरण सामान्यतया 1757 ई. से प्रारंभ हुआ जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने उपमहाद्वीप के पूर्वी तथा दक्षिणी हिस्सों में राजस्व एकत्र करने के अधिकार प्राप्त कर लिये। यह सिलसिला 1813 ई. तक चला, जब भारतीय व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में अंग्रेजों का ध्यान 'आर्थिक लूट' पर ही केंद्रित रहा।

इस काल में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य कार्य भारत से मसाले, कपास तथा रेशम खरीदकर उन्हें ब्रिटेन के ऐसे बड़े बाज़ार में भारी फायदे में बेचना होता था जिनकी यहाँ भारी मांग थी। वस्तुओं की खरीद-फरोख्त के अतिरिक्त कंपनी को एक बड़ी राशि यूरोप की अन्य शक्तियों के साथ होने वाले युद्धों पर भी खर्च करनी पड़ती थी जो अधिकतर व्यापार के लिये एक-जैसी ही वस्तुओं की खोज के लिये होते थे। प्लासी की लड़ाई के पश्चात् बंगाल में दीवानी (अर्थात् राजस्व एकत्रित करने का अधिकार) प्राप्त होने से कंपनी के लिये भारत में होने वाले खर्च के लिये पर्याप्त धन प्राप्त होने लगा। बड़ी मात्रा में पैसे ने, जिसमें कंपनी अधिकारियों की अवैध संपत्ति भी शामिल थी, बंगाल से ब्रिटेन की राह पकड़ ली। इस पैसे का बड़ा भाग कंपनी को ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति में जान डालने के काम आया। भूमि राजस्व से अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये कंपनी ने भारत में विभिन्न भू-राजस्व नीतियाँ लागू कीं।

दीवानी की प्राप्ति के पश्चात् कृषि लगान कंपनी की आय का मुख्य स्रोत हो गया था, जिससे वह ब्रिटेन में अपने निवेशकों को लाभांश का भुगतान करती थी। सन् 1772 में बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल क्षेत्र में राजस्व खेती की व्यवस्था प्रारंभ की। इस व्यवस्था के तहत यूरोपीय ज़िला कलक्टर अधिक बोली लगाने वाले को राजस्व एकत्र करने का अधिकार दे देते थे। यह प्रणाली पूर्णतया असफल रही। इस गलती को सुधारने के लिये सन् 1793 में लॉर्ड कार्नवालिस ने स्थायी बंदोबस्त की शुरुआत की और यह कंपनी के राजस्व में बड़ी वृद्धि करने में सफल रहा। सन् 1792 में अलेक्जेंडरी ने मद्रास क्षेत्र के लिये रैयतवाड़ी व्यवस्था आरंभ की। बाद में इसे बंबई में भी लागू किया गया। भारत के उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिम भाग में सन् 1822 के उपरांत महालवाड़ी व्यवस्था लागू की गई, जिसमें ग्राम समाज तथा अधिकतर मामलों में तालुकदारों से समझौते किये गए। अंग्रेजों की राजस्व नीतियों के परिणामस्वरूप कंपनी के राजस्व संग्रह में बेतहाशा वृद्धि हुई।

उपनिवेशवाद का द्वितीय चरण : औद्योगिक मुक्त व्यापार (1813-60 ई.)

भारतीय क्षेत्र खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल के निर्यातक के रूप में ब्रिटेन के लिये विकसित हुआ, जिसमें निर्माण क्षेत्र में तीव्र प्रगति ने जान फूँक डाली, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय के लिये अत्यावश्यक थी। इन परिवर्तनों ने भारत के अनुकूल व्यापारिक हितों को एकदम पलटकर रख दिया। इस चरण ने भारत में कृषि के व्यवसायीकरण की जटिल प्रक्रिया तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया द्वारा विशुद्ध औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की नींव डाली।

सन् 1813 में चार्टर एक्ट से भारत के व्यापार से कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया और यही से औद्योगिक पूंजीवाद द्वारा भारत के शोषण का नया रूप सामने आया तथा सन् 1858 में यह समाप्त हो गया, जब भारत में ब्रिटिश क्षेत्रों पर ब्रिटिश राजसत्ता ने प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा प्रशासन स्थापित कर लिया। सन् 1813 में चार्टर एक्ट के माध्यम से भारत में मुक्त व्यापार नीति अपनाई गई। पहले तो इसने भारतीय बाज़ारों को सस्ते, अधिक मात्रा में उत्पादित तथा अपनी मशीन आधारित ब्रिटिश सामानों के लिये खोल दिये, जिनके ऊपर नाममात्र के या कोई भी व्यापार कर नहीं थे। महँगे तथा हाथ से निर्मित भारतीय वस्त्रों, जो कि ब्रिटेन में बहुत लोकप्रिय थे, पर प्रतिबंधित सीमा शुल्क दर की वजह से रोक लग गई। भारत में कुटीर उद्योग को जान-बूझकर अंग्रेजों ने खत्म किया और इसके बदले विदेशी उद्योगों के लिये भारत में बाज़ार पैदा किया। इस घातक प्रणाली ने अनौद्योगीकरण को जन्म दिया।



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

☎ 9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

25



अंग्रेजों द्वारा कृषि के व्यवसायीकरण की नीति को प्रोत्साहित किया गया। औपनिवेशिक सरकार ने भारत में उन्हीं नकदी फसलों को प्रोत्साहित किया जिनकी उनको जरूरत थी। उदाहरणस्वरूप, कैरैबियाई देशों से आयात निर्भरता कम करने के लिये उन्होंने भारत में नील की खेती को बढ़ावा दिया, चीन को निर्यात करने के लिये अफीम की खेती को बढ़ावा दिया, इटालियन रेशम पर अपनी निर्भरता कम करने के लिये बंगाल में मलबरी रेशम के उत्पादन को प्रोत्साहित किया। चाय की खेती को बढ़ावा देने का उद्देश्य चीन से चाय आयात में कमी करना था। साथ ही, ब्रिटिश औद्योगिकीकरण की मांग के अनुरूप कपास और नील जैसी नकदी फसलों के उत्पादन को एवं ब्रिटिश औद्योगिक मजदूरों व लोगों की मांग के अनुसार भारत से कृषि फसलों के निर्यात को बढ़ावा दिया गया। इसका लक्ष्य भारत को ब्रिटेन के एक अधीनस्थ बाजार के रूप में विकसित करना था जिससे इसका आसानी से शोषण किया जा सके।

रेलवे का निर्माण इस तरह किया गया था जिससे यह कृषि समृद्ध क्षेत्रों को बंदरगाहों से जोड़ सके तथा रेल किराया इस तरह निर्धारित किया गया था जिससे कच्चे माल का निर्यात आसानी से और सस्ते दामों पर किया जा सके। साथ ही, अंग्रेज अपने तैयार माल के लिये बाजारों का विस्तार करना चाहते थे, इस माल को रेलवे द्वारा सस्ती कीमतों पर इन बाजारों तक पहुँचाया जा सकता था। भारत के प्रथम मंत्री जेम्स विल्सन ने सन् 1860 में प्रथम बजट के निर्माण के समय कृषि निर्यात की नीति को प्रोत्साहन दिया था।

उपनिवेशवाद का तृतीय चरण : वित्तीय पूंजीवाद (1860 ई. के पश्चात्)

ब्रिटिश भारत में तीसरे चरण की शुरुआत 1860 ई. से होती है, भारत जब निरंतर विस्तारित ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया तथा ब्रिटिश राजसिंहासन के नियंत्रण एवं संप्रभुता के अधीन हो गया। यह काल एक प्रकार का आर्थिक साम्राज्यवाद का था जब ब्रिटिश पूंजी उपनिवेश में निवेश हुई थी। यह पूंजी ब्रिटिश बैंकों, आयात-निर्यात संस्थाओं तथा प्रबंधन सेवाओं के बड़े तंत्र द्वारा जुटाई गई थी। तीसरा चरण मात्र उन प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप था जो पहले के दो चरणों में स्पष्टतः दिखाई दे रही थीं।

अपनी व्यावसायिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ब्रिटिश सरकार रेल लाइनों का विकास आवश्यक मानती थी। भारत में रेलवे के निर्माण ने भारत के आर्थिक विकास के औपनिवेशवादी ढाँचे को मजबूत किया। यह पूरी परियोजना ब्रिटिश पूंजी से निर्मित थी और वहाँ के उद्योगपतियों को 5% ब्याज की गारंटी दी गई, जिसका भारतीय राजस्व से भुगतान किया गया। अंग्रेजों ने सूती मिलों एवं इस्पात की फैक्ट्रियों में पूंजी का विनियोग नहीं किया। वे अपने देश के उद्योगों के साथ प्रतियोगिता में नहीं आना चाहते थे। रेल निर्माण के बाद जिन क्षेत्रों के विकास में सर्वाधिक पूंजी लगी, वे थे- चाय, कॉफी, रबर, नील आदि के बागान। भारत के विशाल बाजार पर कब्जा करने के लिये भारत में ही उद्योगों की स्थापना के महत्त्व से उद्योगपति परिचित थे। ऋण की राशि ई. में जहाँ 7 करोड़ पाउंड थी, 1939 ई. में बढ़कर 88 करोड़ 42 लाख पाउंड हो गई थी। इस पर ब्याज तथा लाभांश भी भारत को ही देना पड़ता था।

इस प्रकार, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर व्यापक नकारात्मक प्रभाव पड़ा जिससे समाज के सभी वर्ग के लोगों को यह सोचने पर विवश होना पड़ा कि उनकी समस्त आर्थिक समस्याएँ उपनिवेशी शासन की देन हैं। सक्षम औपनिवेशिक शोषण ने भारतीय अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी रूपांतरण को कुंठित कर दिया। ऐसे में जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उसके सामने दोनों ओर से संकट था- एक तो उद्योगों एवं आधारभूत संरचनाओं का अभाव और दूसरी तरफ कुशल मानव संसाधन की कमी। आजादी के 74 साल बाद भी औद्योगिक रूप से भारत आत्मनिर्भर नहीं बन पाया है, जिसका एक प्रमुख कारण ब्रिटिश भारत की आर्थिक नीतियाँ भी हैं।

18. अप्रिय ब्रिटिश साम्राज्य के संयुक्त विरोध के सामने स्वार्थपूर्ण प्रयोजन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। आमजन की अत्यधिक भागीदारी के बाद भी वे कौन-से कारण थे जिन्होंने विद्रोहियों को आत्मसमर्पण के लिये मजबूर कर दिया था? टिप्पणी कीजिये।

In the face of joint opposition to the unpleasant British Empire, selfish motives were no more important. What were the reasons that compelled the rebels to surrender despite the high public participation? Comment. **15 अंक (15 Marks)**

उत्तर :

- आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार, सन् का विद्रोह विभिन्न समूहों द्वारा क्षेत्रीय भावना और व्यक्तिगत हितों से निर्देशित था, इसे 'कारकों की भिन्नता' कहा जाता है। उदाहरण के लिये किसानों को भू-राजस्व व्यवस्था से शिकायतें थीं, कारीगर व शिल्पी उत्पादन व वितरण से उपजे असंतोष से नाराज थे, राजा और नवाब अपने राज्य खोने के कारण एवं अंग्रेजों की विस्तारवादी नीतियों के कारण नाराज थे। उदाहरण के लिये रानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोह किया क्योंकि वे अपने दत्तक पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थीं, जबकि नाना साहब अपनी पेंशन पाना चाहते थे। अतः विद्रोह में कारकों का अंतर था, लेकिन हितों की एक समानता थी अर्थात् अंग्रेजों और अंग्रेजों के सहयोगियों के खिलाफ असंतोष।
- बैरकपुर सिपाही विद्रोह के रूप में शुरू हुआ का विद्रोह अपने स्वरूप में अत्यधिक संगठित था तथा इसने व्यापक प्रभाव उत्पन्न किये। इसकी तीव्रता ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में पहचान दिलाई। दिल्ली में बहादुर शाह ज़फर, लखनऊ में बेगम हजरत महल, कानपुर में



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

☎ 9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

26

नाना साहेब, झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई, बिहार में कुँवर सिंह आदि ने उत्तरी भारत एवं मध्य भारत में फैले इस विद्रोह का नेतृत्व किया। इस विद्रोह में आमजन की अत्यधिक भागीदारी थी इसके बावजूद विद्रोहियों ने आत्मसमर्पण कर दिया, जिसके निम्नलिखित कारण थे—

- ▶ **सीमित विद्रोह:** हालाँकि, विद्रोह काफी व्यापक था, लेकिन देश का एक बड़ा हिस्सा इससे अप्रभावित रहा। पंजाब, ग्वालियर, बड़ौदा, सिंध, राजस्थान, सिखों, मराठों, राजपूतों, पूर्वी भारत, दक्षिण भारत, राजपूताना रियासतें पूरी तरह अंग्रेजों की राजभक्त बनी रहीं। इस प्रकार, विद्रोह मुख्यतः उत्तरी भारत एवं दोआब क्षेत्र तक ही सीमित था।
- ▶ **मध्यम वर्ग की कोई भागीदारी नहीं:** यद्यपि, आमजन की बड़ी भागीदारी देखने को मिलती है लेकिन अंग्रेजी शिक्षित मध्यम वर्ग, अमीर व्यापारियों, छोटे व्यापारियों और बंगाल के जमींदारों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की मदद की, क्योंकि साहूकारों और व्यापारियों ने अनुभव किया कि उनके आर्थिक हित ब्रिटिश संरक्षण के अंतर्गत बेहतर रूप से संरक्षित हैं। आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयों का विश्वास था कि ब्रिटिश, भारत का आधुनिकीकरण करेंगे और उन्होंने विद्रोह को प्रतिगामी प्रतिक्रिया समझा।
- ▶ **सीमित संसाधन:** विद्रोहियों के पास आधुनिक हथियारों और धन की कमी थी। दूसरी ओर, अंग्रेजों को भारत में योग्य सैनिक, धन और हथियारों की निरंतर आपूर्ति, रेल, डाक, तार एवं परिवहन तथा संचार के अन्य सभी अत्याधुनिक साधन प्राप्त थे।
- ▶ **प्रभावी नेतृत्व नहीं:** विद्रोहियों के पास एक प्रभावी नेता की कमी थी। हालाँकि, नाना साहेब, तात्या टोपे और रानी लक्ष्मीबाई बहादुर नेता थे, लेकिन वे समग्र रूप से आंदोलन को प्रभावी नेतृत्व नहीं दे सके।
- ▶ **सांप्रदायिकता का फैलाना:** अंग्रेजों ने मराठों, सिखों और गोरखों को बहादुर शाह के खिलाफ यह कहकर भड़काया कि यदि उसके हाथ में फिर से सत्ता आती है तो हिंदुओं और उनका कत्लेआम कर दिया जाएगा। इसके लिये उन्होंने बहादुर शाह के नाम का झूठा फरमान भी दिखाया।
- ▶ विद्रोही भारतीय शासकों के पास भविष्योन्मुखी दृष्टिकोण की कमी थी।
- इस प्रकार, हम देखते हैं कि यद्यपि की क्रांति क्षेत्रफल एवं जनसंख्या के हिसाब से अमेरिकी क्रांति की अपेक्षा विस्तृत रूप से फैली हुई थी, लेकिन इसका प्रभाव उतना दूरगामी नहीं था जितना की अमेरिकी क्रांति का। यह विद्रोह भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। इसके कारण भारतीय समाज के कई वर्ग एकजुट हुए। हालाँकि, विद्रोह वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में विफल रहा, लेकिन इसने भारतीय राष्ट्रवाद के बीज बो दिये।

19. गांधीजी की विचारधारा के मुख्य पहलुओं का उल्लेख कीजिये। ये पहलू किस प्रकार जन-लामबंदी के प्रमुख अस्त्र साबित हुए? स्पष्ट कीजिये।

Mention the major aspects of Gandhiji's ideology. How did these aspects prove to be the main tools of mass mobilization? Explain.

15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

कॉंग्रेस को जनांदोलन का केंद्र बनाने का श्रेय महात्मा गांधी की विचारधारात्मक अवधारणा को दिया जाता है। उनकी विचारधारात्मक अवधारणा का विकास अनेक विचारों के संश्लेषण का परिणाम था। अपनी आत्मकथा में गांधी जी ने स्वीकार किया है कि उनके अभिभावकों के दृष्टिकोण, सामाजिक और धार्मिक वातावरण ने उनको व्यापक रूप से प्रभावित किया था। गांधी जी प्रारंभिक रूप में वैष्णव मत और जैन धर्म की परंपराओं (अनेकांतवाद) से प्रभावित थे। गांधी जी भगवद् गीता से भी प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त ईसा मसीह के पर्वत प्रवचन, टॉलस्टॉय, थोरो, रस्किन के लेखों ने भी उनके चिंतन को प्रभावित किया था, लेकिन इसके साथ-साथ उनकी विचारधारा के विकास और दिशा निर्धारण में सर्वाधिक योगदान जीवन में उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों का था। उनकी विचारधारा के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

सत्याग्रह—

सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है 'सत्य के लिये आग्रह करना' सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है जो एक नैतिक साधन है। इसका उपयोग गांधी जी ने सामाजिक तथा राजनैतिक अन्याय के विरुद्ध लड़ाई लड़ने में किया। गांधी जी ने इसका सर्वप्रथम प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में किया तथा बाद में भारत में अंग्रेजी शासन के खिलाफ तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष में किया। उन्होंने आमजन को यह सिखाया कि सत्याग्रह का प्रयोग समस्या तथा संघर्ष के समाधान हेतु किस प्रकार किया जाता है। नमक सत्याग्रह, डांडी-मार्च, भारत छोड़ो आंदोलन, करो या मरो के मंत्र के रूप में यह हर भारतवासी के हृदय में घर कर गया। एक शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध अहिंसा तथा सत्याग्रह के शस्त्रों द्वारा लड़ाई लड़कर न केवल भारत को स्वतंत्रता मिली वरन् इसने संपूर्ण विश्व को एक नई दिशा दिखाई।

अहिंसा-

अहिंसा; सत्याग्रह विरोधी के प्रति घृणा या हिंसा की अनुमति नहीं देती, क्योंकि इसका उद्देश्य विरोधी का हृदय परिवर्तन करना है न कि उसका दमन करना। वस्तुतः सत्य और अहिंसा एक-दूसरे से अत्यधिक घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। अहिंसा ने आमजन के मन में निर्भकता और संयमता का भाव पैदा किया जिससे वे लंबे समय तक अंग्रेजों का प्रतिरोध करने में सक्षम हुए।

धार्मिक प्रतीकों का उपयोग-

लियो टॉलस्टॉय की पुस्तक 'द किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदीन यू' ने गांधी जी के ऊपर गहरा प्रभाव डाला था जिसमें धर्म और नैतिकता के मध्य संबंध का वर्णन है। गांधी जी राजनीतिक जीवन में धर्म को नैतिकता का प्रमुख अस्त्र मानते थे। राम राज्य की संकल्पना उनकी धार्मिक-राजनीतिक अभिव्यक्ति थी। धर्म का व्यावहारिक प्रयोग वर्ष 1919-20 में खिलाफत आंदोलन में लोगों की राजनीतिक लामबंदी के लिये किया गया था।

हिंद स्वराज का विचार-

हिंद स्वराज में महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सभ्यता की आलोचना की है एवं वैकल्पिक सभ्यता पर बल दिया है जो पश्चिम का अंधानुकरण न हो। इस संदर्भ में गांधी जी ने जो भी कहा है वह अंग्रेजों के प्रति द्वेष होने के कारण नहीं, बल्कि उनकी सभ्यता के प्रतिवाद में कहा है। गांधी जी का स्वराज दरअसल एक वैकल्पिक सभ्यता का शास्त्र या ब्लू प्रिंट है, वह राज्य की सत्ता प्राप्त करने का कोई राजनैतिक एजेंडा या मैनिफेस्टो नहीं है।

स्वदेशी-

गांधी जी उपनिवेशवाद के मूल कारण आर्थिक दोहन पर चोट करना चाहते थे, अतः इन्होंने स्वदेशी पर बल दिया था। हालाँकि, वर्ष 1905 के पश्चात् अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल, बाल गंगाधर तिलक ने स्वदेशी का बीजारोपण भारतीय जनमानस में कर दिया था, लेकिन इसे पूर्णरूपता गांधी जी द्वारा दिया गया। इससे सिर्फ आमजन में राष्ट्रीकरण का प्रसार हुआ बल्कि स्वदेशी उद्योगों को भी बढ़ावा मिला।

असहयोग-

डेविड थोरो की पुस्तक 'सिविल असहयोग' से प्रेरणा पाकर गांधी जी ने असहयोग को सत्याग्रह का प्रमुख अस्त्र माना था। गांधी जी ने वर्ष 1920 में असहयोग आंदोलन चलाया था। अत्याचारी को सत्य के मार्ग पर लाने हेतु उसके साथ सहयोग बंद करना असहयोग है। बुराई को दूर करने का यह अहिंसात्मक हथियार है।

सर्वोदय-

'अनटू दिस लास्ट' अंग्रेज लेखक रस्किन की एक पुस्तक है। जिसका अर्थ है- कतार का आखिरी व्यक्ति। इससे प्रेरित होकर गांधी जी ने सभी व्यक्तियों के उत्थान का लक्ष्य रखा था, जो सर्वोदय की अभिव्यक्ति थी। इस अवधारणा ने गांधी जी के प्रति लोगों के विश्वास में अभूतपूर्व वृद्धि की।

स्वराज-

हालाँकि, स्वराज शब्द का अर्थ स्व-शासन है, लेकिन गांधी जी ने इसे एक ऐसी अभिन्न क्रांति की संज्ञा दी जो कि जीवन के सभी क्षेत्रों को समाहित करती है। गांधी जी के लिये स्वराज का मतलब व्यक्तियों के स्वराज (स्व-शासन) से था और इसलिये उन्होंने स्पष्ट किया कि उनके लिये स्वराज का मतलब अपने देशवासियों हेतु स्वतंत्रता है और अपने संपूर्ण अर्थों में स्वराज स्वतंत्रता से कहीं अधिक है, यह स्व-शासन है, आत्म-संयम है और इसे मोक्ष के बराबर माना जा सकता है।

ट्रस्टीशिप-

ट्रस्टीशिप एक सामाजिक-आर्थिक दर्शन है जिसे गांधी जी द्वारा प्रतिपादित किया गया था। यह अमीर लोगों को एक ऐसा माध्यम प्रदान करता है जिसके द्वारा वे गरीब और असहाय लोगों की मदद कर सकें। इससे गरीब और असहाय अपने भविष्य को लेकर उत्साहित हुए।

अनेकांतवाद-

- गांधी जी जैन दर्शन अनेकांतवाद से प्रेरित थे, जिसका अर्थ था सत्य एक नहीं है, सभी में कुछ न कुछ सत्य का अंश छुपा हुआ है।



- गांधी जी के इन विचारों का परिणाम था कि धीरे धीरे राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप ज्यादा समन्वयवादी हो गया। अहिंसा व सत्याग्रह महिलाओं, किसानों को ज्यादा आकर्षित लगे, बिना जोखिम के आंदोलन अब लंबे समय तक चलाए जा सकते थे। धार्मिक और सर्वोदय जैसे विचार प्रत्येक भारतीय चाहे वह तत्कालीन समाज का रहा हो या वर्तमान समाज का, को गांधी जी से जुड़ने की अपील करते प्रतीत होते हैं।

20. स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की विदेश नीति को निर्धारित करने में किन तत्त्वों का प्रमुख योगदान था? विवेचना कीजिये।

Which factors were the major contributors to determining the foreign policy of India after independence? Discuss.

15 अंक (15 Marks)

उत्तर :

- किसी भी देश की विदेश नीति का निर्धारण अनेक तत्त्वों से होता है। इसके पीछे मूल विचार यह होता है कि सरकारें तो बदलती रहती हैं, लेकिन विदेश नीति पहले जैसी ही रहती है। यद्यपि, व्यवहार में तो कुछ अंतर अवश्य हो सकता है, परंतु सैद्धांतिक तौर पर विदेश नीति के लक्ष्य व सिद्धांत पहले जैसे ही रहते हैं। इन तत्त्वों को आंतरिक एवं बाह्य तत्त्वों में बाँटा जा सकता है। आंतरिक तत्त्वों में देश की भौगोलिक स्थिति, इतिहास, परंपराएँ, सामाजिक संरचना, राजनीतिक संगठन, संविधान का स्वरूप आदि प्रमुख हैं। वही बाहरी तत्त्वों पर विचार किया जाए तो देश के पड़ोसी राष्ट्र, तत्कालीन वैश्विक परिदृश्य, आयतक-निर्यातक देश, विचारधारात्मक सहयोगी या प्रतिद्वंदी एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं नियमों के प्रति संबंधित देश का नजरिया उसकी विदेश नीति को निर्धारित करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत में एक ओर इसकी खस्ता हाल आर्थिक स्थिति व कई सारी आंतरिक चुनौतियाँ विद्यमान थीं तो दूसरी ओर, शीतयुद्धकालीन वैश्विक व्यवस्था की उपस्थिति, ऐसे में दोनों चुनौतियों से निपटना भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी। भारत ने इन सभी चुनौतियों का सामना करते हुए एक सफल और प्रभावशाली विदेश नीति का निर्माण किया। तत्कालीन भारत की विदेश नीति को निर्धारित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं-
- भारत का राष्ट्रीय नेतृत्व स्वतंत्रता से पूर्व ही विदेश नीति के प्रति जागरूक था। वर्ष 1921 में अखिल भारतीय कांग्रेस ने इसमें रुचि दिखाई, वर्ष 1927 में कांग्रेस ने चीन ईरान, मेसोपोटामिया में भारतीय सेना के प्रयोग के प्रति खेद प्रकट किया, वर्ष 1939 में उपनिवेशवाद एवं फासीवाद के युद्ध में भारतीय लोगों के भाग न लेने की घोषणा की। एशियाई राष्ट्रों के सम्मेलन में बंधुत्व का परिचय दिया।
- भारतीय विदेश नीति साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नस्लवाद के उन्मूलन के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध थी। इस संदर्भ में भारत ने प्रारंभ से ही एशियाई और अफ्रीकी देशों के साथ एकजुटता का प्रदर्शन किया।
- भारतीय कूटनीति के संचालन में ब्रिटिश संस्कृति और परंपरा का प्रभाव भी दिखाई देता है। राष्ट्रमंडल देशों के साथ संबंधों के विकास में ब्रिटेन की परंपरा का योगदान देखा जा सकता है।
- गांधीजी, अरविंद घोष और रवींद्रनाथ टैगोर के विचारों में परिलक्षित भारत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण, भारतीय विदेश नीति को विश्व शांति के प्रति प्रतिबद्ध बनाने, सत्तात्मक मित्र से दूर रहने, शीतयुद्ध और सैन्य गठबंधनों से दूर रहने में सहायक रहा है।
- भारत की विदेश नीति की जड़ें उसके इतिहास व परंपराओं में हैं। भारत का अहिंसावादी चिंतन अर्थात् महात्मा बुद्ध और गांधी का आदर्शवादी चिंतन भारत की विदेश नीति में आदर्शवादी तत्त्वों का समावेश करता है। नेहरू जी द्वारा प्रतिपादित पंचशील और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत भारत की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक धरोहर है।
- राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास, आदर्श और सिद्धांत भारत के स्वतंत्रता-पूर्व विदेशी संबंधों का इतिहास और भारत के विभाजन के दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव ने भारतीय विदेश नीति के निर्माण में प्रभावशाली भूमिका निभाई थी।
- संविधान का अनुच्छेद 51 जो की अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बढ़ावा देने की बात करता है, राष्ट्रों के मध्य न्याय एवं सम्मानपूर्ण संबंधों की वकालत करता है का प्रभाव हमारे विदेश नीति पर देखा जा सकता है।
- देश की आयत प्रतिस्थापन की नीति एवं निर्यात की नीति ने भी राष्ट्र की विदेश नीति को तय करने का कार्य किया था।
- अपनी स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की थी। आर्थिक विकास के लिये यह जरूरी होता है कि उस देश के साथ प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक संसाधन व उनके दोहन की क्षमता हो। भारत के पास प्राकृतिक साधन तो प्रचुर मात्रा में थे, लेकिन उनका दोहन करने के लिये पूंजी व तकनीक का अभाव था। इसलिये, भारत ने अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे देशों से संबंध स्थापित किये।
- अन्य कारक जैसे कि सीमाई पड़ोसी नेताओं की व्यक्तिगत विचारधारात्मक प्रतिबद्धताएँ, तत्कालीन आवश्यकताओं ने भारत की विदेश नीति को निर्धारित करने के मुख्य भूमिका निभाई रहे।



हेड ऑफिस
636, भू-तल, मुखर्जी नगर,
दिल्ली-09

☎ 9555-124-124

प्रयागराज केंद्र
7/3/AA/1, ताशकंद मार्ग, पत्रिका चौराहा,
प्रयागराज, उ.प्र.

29

- किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति उस देश की विदेश नीति का निर्धारण करती है। जो देश भौगोलिक दृष्टि से सुरक्षित होता है, वह स्वतंत्र विदेश नीति का निर्माण कर सकता है। भारत की भौगोलिक स्थिति ने भी भारत की विदेश नीति को प्रभावित किया है। देश के विशाल आकार, उसकी जलवायु, उसकी अवस्थिति; और भू-आकृति; ने भारत की विदेश नीति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।
- इन सभी कारकों ने सम्मिलित रूप से भारत की विदेश नीति को निर्धारित करने में अपना योगदान दिया था। भारत की विदेश नीति निम्नलिखित आधारों पर अवलंबित थी जैसे कि—
- **शांति व निःशस्त्रीकरण**— भारत प्रारंभ से ही यह कहता आया था कि नवोदित राष्ट्रों के लिये संघर्ष आधारित विदेश नीति अनुकूलित नहीं है बल्कि शांति आधारित विदेश नीति ही अनुकूल है।
- **पंचशील सिद्धांत**— भारत की विदेश नीति मैत्री एवं शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर जोर देती है। वर्ष 1954 में पंचशील का सिद्धांत दिया जिसमें 5 अनिवार्य तत्व शामिल थे
 1. एक-दूसरे की प्रादेशिक अखंडता का समर्थन
 2. अनाक्रमण
 3. एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति
 4. समानता एवं पारस्परिक लाभ
 5. शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

संयुक्त राष्ट्र जैसी वैश्विक संस्थाओं का समर्थन

- संयुक्त राष्ट्र देशों के मध्य संवाद स्थापित करने का ज़रिया था एवं वैश्विक नियमों को निर्धारित करने के लिये संस्थागत तंत्र था। अतः भारत संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में विश्वास करने वाला राष्ट्र था, इस प्रकार भारत की विदेश नीति बहुलवाद के समर्थन पर आधारित थी।
- **गुटनिरपेक्षता की नीति**— शीतयुद्ध के दौर में भारत को स्वतंत्रता मिली थी। भारत न तो पूंजीवादी खेमे में शामिल होना चाहता था और न ही समाजवादी गुट में शामिल होना चाहता था। भारत की विदेश नीति विश्व की अनावश्यक तनावपूर्ण स्थिति से बचने के लिये गुटनिरपेक्षता की नीति पर आधारित थी।
- किसी भी देश की विदेश नीति उस देश के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की महत्वपूर्ण निर्धारक होती है। इसलिये, देश को अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते हुए विभिन्न तत्कालीन और भविष्यगत परिस्थितियों को ध्यान में रखना पड़ता है। इसी प्रकार, भारत ने स्वतंत्रता के पश्चात् उपर्युक्त को दृष्टिगत रखते हुए अपनी विदेश नीति को अपने पूर्वकालिक अनुभवों, राष्ट्रीय नेताओं की विचारधाराओं, संविधान के आदर्शों के साथ ही तत्कालीन भारतीय और वैश्विक परिस्थितियों के समन्वय से निर्धारित किया।